गार्हस्थ्य जीवन

और

ग्राम-सेवा

परशुराम चतुर्वेदी
भूतपूर्व चेयरमैन, ग्राम-सुधार बोर्ड
बलिया

साहित्य भवन लिमिटेड
इलाहाबाद

प्रकाशक :
साहित्य भवन लिमिटेड
इलाहाबाद

प्रथम संस्करण; जून १९५२
मूल्य ।।।)

मुद्रक :
राजेन्द्रदत्त वाजपेयी
हिन्दी साहित्य प्रेस, इलाहाबाद

सेवा-रत गार्हस्थ्य जीवन को

प्रकाशकीय

गार्हस्थ्य जीवन, लौकिक जीवन की धुरी है। इसकी महत्ता एवं उपयोगिता शाश्वत तथा सार्वदेशिक है। परन्तु इसके व्यावहारिक पक्ष की ओर जितना कम ध्यान दिया जाता है उतना कम ध्यान शायद ही अन्य किसी ओर दिया जाता हो। इसी कारण, अधिकांश परिवार कलह-केन्द्र बने रहते हैं। जागरूक लेखक ने जीवन के इस महत्त्वपूर्ण पक्ष की ओर न केवल हमारा ध्यान आकर्षित किया है, अपितु अपने व्यावहारिक सुझावों द्वारा हमें लाभ उठाने का सुअवसर भी प्रदान किया है।

ग्राम-सेवा का महत्त्व सर्वविदित है। आज की दुनिया में यद्यपि गांव की नगर से सर्वथा स्वतंत्र सत्ता नहीं रह गई है, तथापि, व्यावहारिक दृष्टि से उसकी अपनी इकाई है। नगर की अपेक्षा अधिक पिछड़े होने के कारण गांवों की समस्याओं के समाधान की रीति-नीति में विशेष अंतर आ जाता है। अनुभवी लेखक ने ग्रामीण समस्याओं और उनके समाधान का मनोवैज्ञानिक विवेचन करते हुए अपने व्यावहारिक सुझावों द्वारा ग्राम-सेवकों का कण्टकाकीर्ण मार्ग बहुत कुछ प्रशस्त कर दिया है।

हमारा दृढ़ विश्वास है कि ऐसी उपयोगी पुस्तिका का सर्वत्र सहर्ष स्वागत होगा।

नर्मदेश्वर चतुर्वेदी
प्रकाशनाध्यक्ष

विषय-सूची

गार्हस्थ्यजीवन

ग्राम-सेवा

परिशिष्ट

गार्हस्थ्य जीवन

गार्हस्थ्य जीवन

गार्हस्थ्य जीवन के तीन मुख्य अंग हैं—परिवार, जीविका और जनता। प्रत्येक परिवार अपने को जीवित रखने तथा उन्नत बनाने की चेष्टा करेगा, इसके लिए उसे कुछ-न-कुछ जीविकोपार्जन करना पड़ेगा, और व्यवहार के कारण वह किसी-न-किसी प्रकार सर्वसाधारण के सम्पर्क में आये बिना न रह सकेगा। ये तीनों वस्तुएं मूलाधार हैं, जिनके अस्तित्व में किसी को सन्देह नहीं हो सकता। गार्हस्थ्य-जीवन का चक्र इन्हीं तीनों के संगठन, संचालन तथा सहकारिता के बल पर सदा चला करता है। सम्पत्ति इन तीनों का साधन है और इन्हें आपस में सम्बद्ध रखने में सूत्र का काम देती है। सांसारिक जीवन के स्वरूप का यही रहस्य है।

परन्तु इन तीनों अंगों में भी मुख्यतम भाग परिवार का है। परिवार ही वह केन्द्र है, जिसके लिए जीविका का जन्म होता है और जिसकी सुव्यवस्था अथवा दुरवस्था पर गार्हस्थ्य जीवन का भला-बुरा कहलाना निर्भर है। इस कारण परिवार के प्रत्येक अंश, उसकी स्थिति तथा उसके पारस्परिक सम्बन्ध की ओर ध्यान देना हमारा सबसे पहला कर्त्तव्य है। स्त्री-पुरुष के भेदानुसार, आयु-सम्बन्धी अवस्थानुसार, योग्यता के विचार से, अथवा मालिक-नौकर के भाव से—अर्थात्, किसी-न-किसी प्रकार—एक अंश के कर्त्तव्य और अधिकार दूसरे अंश के अधिकार और कर्त्तव्य के साथ जुड़े हुए हैं। अतएव प्रत्येक व्यक्ति को इसका स्पष्ट ज्ञान प्राप्त कर लेना परमावश्यक है। उसे यह भी समझ लेना उचित है कि मैं इस बृहत् समुदाय का एक अवयव-मात्र हूँ और मेरे सभी व्यावहारिक कार्यों का उद्देश्य उसीका उद्देश्य है। एक का दूसरे के स्वभाव से यथाशक्ति परिचित हो जाना भी अत्यन्त उपयोगी

होता है। क्योंकि, बहुधा देखने में आया है कि स्वभाव का अज्ञान बड़े दुखदायी मनोमालिन्य का कारण हो जाया करता है और गार्हस्थ्य जीवन के बहुत-से धन्धों में एकाएक बाधा आ उपस्थित होती है। ऐसे अवसरों पर यदि सच्ची उदारता न दिखलाई जाय और पूरी सावधानी से काम न लिया जाय तो अर्थ का अनर्थ हो जाना असम्भव नहीं। विशेष मनोवृत्तियों का परिचय भी इसी प्रकार लाभदायक है।

गार्हस्थ्य जीवन की बहुत-सी कठिनाइयाँ इस कारण भी आ उपस्थित होती हैं कि मनुष्य जीविका को अपना एकमात्र अन्तिम ध्येय मान बैठता है और उसे अपने सर्वस्व तक की पदवी देने में संकोच नहीं करता। फल यह होता है कि गौण वस्तु के प्रभाव में आकर मुख्य वस्तु का ध्यान तक छूट जाता है और सुख अनुभव करने के स्थान पर उसे दुःख उठाने तक की नौबत आ जाती है। जीविका परिवार के लिए हो अथवा परिवार जीविका के अनुसार बनाया जाय, यह एक कठिन समस्या है। संयुक्त परिवार की प्रथा को मानने वाले पूर्वी देशों के निवासी स्वभावतः परिवार को ही प्रधानता देते हैं और भारतवर्ष में तो अभी तक जीविका वर्ण-व्यवस्था की ही अनुगामिनी है। परन्तु पश्चिमी देशों के लोग जीविका को ही प्रधान समझते हैं, जिस कारण पारिवारिक जीवन के सहारे सीखे जानेवाले कई नैतिक गुणों का उनमें अच्छा विकास नहीं हो पाता। जीविका को सुचारु रूप से चलाने के लिए आपस में श्रम-विभाग का कर लेना बहुत उपयोगी होता है। पूर्वी देशों में बहुधा संयुक्त परिवार के रहते हुए भी सारा भार किसी एक मुख्य व्यक्ति पर ही रख छोड़ते हैं, जिसका प्रभाव अधिकतर बुरा हो जाया करता है। सब लोग सभी कार्य करने के योग्य नहीं होते और न उनकी मनोवृत्ति ही सब ओर एक प्रकार की हो सकती है; अतएव जीविका की अनेक अवस्थाओं में बहुधा शिथिलता आये बिना नहीं रहती। जीविका में अच्छी सफलता प्राप्त करने वाले अंगों का उपयुक्त होना परमावश्यक है और इसकी उपयोगिता पूर्णतः आवश्यक शिक्षा

पर निर्भर है। इस कारण, ठेठ जीविका की ओर ध्यान देना उसके लिए शिक्षित बनाने के कर्त्तव्य से किसी प्रकार बढ़कर नहीं। यह भी नितान्त आवश्यक है कि जीविका का रूप निश्चित कर लेने पर उसका सम्यक् प्रकार से अध्ययन कर लिया जाय और उसके प्रत्येक खण्ड का श्रम-विभाग के सिद्धान्तानुसार परिवार के प्रत्येक योग्य अंग पर उसकी योग्यता के ही अनुरूप भार दे दिया जाय। संयुक्त परिवार की भिन्न-भिन्न जीविकाएं भी इसी प्रकार बरती जा सकती हैं। योग्यता और कर्त्तव्य के सामंजस्य का निर्णय यदि कार्यकर्ता पर ही यथासम्भव छोड़ दिया जाय तो अधिक व्यावहारिक होगा। कारण यह कि बिना ऐसा किए बहुधा भ्रम के अथवा उसी प्रकार अपने उत्तरदायित्व में कमी आने का भय है। प्रत्येक बात का आरम्भ में विचार कर लेना परमावश्यक है।

कोई परिवार अपनी सामग्री अथवा साधन की दृष्टि से पूर्ण नहीं होता, अतएव बाहर की जनता से उसका प्रत्येक पल पर सम्पर्क होना अनिवार्य है। यही नहीं, भिन्न-भिन्न स्वार्थों की मुठभेड़ परिवारों की उद्देश्य-सिद्धि के पूर्ण होने में बाधा खड़ी करती है। फलतः प्रत्येक दल को अपने-अपने आदर्श का झंडा कुछ-न-कुछ नीचे लाना पड़ता है। मानवीय हृदय के स्वभावसिद्ध नैतिक गुण—अर्थात् उदारता, परोपकारिता तथा सहानुभूति—उसके इस कार्य में सहायक होते हैं और वह इच्छा न रखते हुए भी इस प्रकार बलात्कार इस संसार का एक उपयोगी अवयव बन जाता है। प्रश्न यह है कि ऐसे अवसरों पर इन नैतिक गुणों का प्रयोग शुद्ध उच्च भावों का ही आश्रय लेकर किया जाय, अथवा व्यवहार का वास्तविक रूप भी खड़ा कर दिया जाय? मनुष्य अपनी व्यावहारिक दृष्टि को प्रकट करने में एक प्रकार की हीनता का अनुभव किया करता है। कारण, भ्रमवश व्यवहार को कुछ निम्न श्रेणी की वस्तु समझने की एक परिपाटी-सी चल निकली है। और मनुष्य उसका अनुसरण करता हुआ, अपनी महत्ता को

सुरक्षित रखने के मोह में पड़कर, बहुधा ऐसे समय पाखंड का सहारा ले लेता है। परन्तु ऐसा करना अपने हृदय की सचाई के प्रतिकूल चलना है। हाँ, यह हो सकता है कि अमुक व्यक्ति को व्यवहार के प्रति विशेष रूप से अश्रद्धा हो और वह अपनी प्रकृति के अनुसार अपना जीवन नैतिक रूप में ही परिणत करना चाहता हो। किन्तु उस दशा में तो बात ही और है। ऐसे साधुओं के लिए गार्हस्थ्य जीवन में सफलता नहीं मिल सकती। उनके लिए न तो पारिवारिक संगठन की ही आवश्यकता है, और न जीविका का ही कोई महत्त्व है।

गार्हस्थ्य जीवन का अन्तिम उद्देश्य एकांत रूप से न तो जीविका है, और न केवल नैतिक गुण ही हैं। उसके लिए जीविका उतनी ही चाहिए, जितनी परिवार के संचालन के लिए उपयोगी हो; और नैतिक गुण भी उतने ही चाहिए, जितने परिवार के अच्छे संगठन तथा जनता के साथ जीविका-सम्बन्धी व्यवहारों के लिए परमावश्यक हों। दोनों को परस्पर-पूरक होना चाहिए। किन्तु यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो नीति-शास्त्र की परिधि के अन्तर्गत आने वाले लगभग प्रत्येक गुण का प्रयोग हमारे व्यवहार में आ जाता है। अन्तर केवल यही है कि इस दशा में सर्वदा किसी-न-किसी अनुपात में ही सब गुण बरते जाते हैं और साधुता के जीवन में इसका विचार नहीं किया जा सकता। गार्हस्थ्य जीवन वास्तव में व्यावहारिक जीवन ही कहलाने योग्य है। हाँ, व्यवहार का रूप ऊपर कही गई दृष्टिओं के अनुसार सदा शुद्ध रहे और उसपर निम्न श्रेणी की मनोवृत्तियाँ किसी भी प्रकार की मलिनता की छाया न डाल सकें। तभी गार्हस्थ्य-जीवन सफल हो सकेगा।

गृह वस्तु-व्यवस्था

अपने गृह की वस्तुओं को सदा यथायोग्य स्थान पर उनके क्रमानुसार रखना परमावश्यक है। यह गृह-व्यवस्था-शास्त्र का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण नियम है। प्रत्येक वस्तु को हम एक ही काम में नहीं ला सकते और न ऐसा करने का हमारे जीवन में कभी कोई अवसर ही पड़ सकता है, अवएव भिन्न-भिन्न अवसरों पर अनावश्यक वस्तुओं का अस्तित्व हमारे मार्ग में बहुधा एक प्रकार की रुकावट का सामान बन जाता है। इसके सिवाय, हमारी चित्त-वृत्तियाँ हमारे प्रयोजन के ही अनुसार काम किया करती हैं, इस कारण उपर्युक्त अवस्था में अनावश्यक वस्तु का ढेर कभी-कभी हमें अनिमन्त्रित अतिथियों की भाँति चिढ़ाने लगता है। यही नहीं, कई बार तो यहाँ तक देखा गया है कि जब कभी आवश्यकता पड़ने पर हम किसी वस्तु को शीघ्र ही पा लेने की इच्छा रखते हों और वह भिन्न-भिन्न वस्तुओं की राशि में मिल गई हो अथवा जब कभी अपनी स्मरण शक्ति की निर्बलता के कारण उस वस्तु की वास्तविक स्थिति का निश्चित स्थान हमें मिलता न हो, उस समय हम भविष्य में होने वाली हानि की आशंका से बहुधा घबड़ा जाया करते हैं और क्रोध के कारण आवेश में हमें थोड़ी बहुत हानि असमय ही उठानी पड़ती है। वस्तु के खो जाने का भय हम से कभी-कभी घबड़ाहट में ऐसी जगहों पर खोज कराता है जहाँ पर उसे कभी नहीं रक्खा जा सकता। कहा भी है कि थाली खो जाने पर मनुष्य उसे घड़े के अन्दर ढूँढ़ता है। कभी-कभी तो ऐसा होता है कि यदि कोई वस्तु अपने स्थान पर न रखी गई हो तो हम उसे आवश्यक होने पर भी भूल तक जाते हैं और जिस अवसर के

लिये उसे एकत्र किया था उसके बीत जाने पर उसे अनावश्यक समझ कर हमें व्यर्थ पछताना पड़ता है।

फिर स्वच्छता और कला की दृष्टि से भी वस्तुओं की सुव्यवस्था अत्यन्त आवश्यक है। बेतरतीब रखी हुई थोड़ी-सी भी चीजें एक बड़े आँगन या कमरे को भर देती है और जान पड़ता है मानों एक तिनका रखने को भी कहीं स्थान नहीं है। पर वे ही चीजें जब किसी ढंग या क्रम के साथ वहाँ सजायी जाँय तो देखने में भी अच्छा जचता है और बहुत कुछ अन्य वस्तुओं के भी रखने को स्थान मिल जाता है। भिन्न-भिन्न वस्तुओं को सजाने के लिये भिन्न-भिन्न ढंग हुआ करते हैं और सभी कोई सजावट की कला से अभिज्ञ नहीं होते। एक ही वस्तु की सजावट भिन्न दृष्टियों से की जाने पर भी अनेक रूप धारण कर सकती है। देहात में जाने पर जिसने गोबर के उपलों अथवा साधारण लकड़ी के ढेर देखे होंगे वे जानते हैं कि स्थान की कमी तथा अधिकता की दृष्टि से अथवा दिखलाने या बेचने के लिए भी लोग विचित्र-विचित्र प्रकार की सजावटें किया करते हैं।

कौन-सी वस्तु कहाँ रक्खी जाय अथवा कौन-सा कमरा किस काम के लिए रख छोड़ा जाय ये दोनों प्रश्न लगभग एक ही प्रकार के हैं। इनके उत्तर के लिए सबसे उत्तम विचार यह है कि जिस प्रकार हम अर्थ शास्त्र अथवा वर्ण व्यवस्था के सिद्धांतानुसार मानव समाज में श्रम-विभाग या कर्तव्य विभाग किया करते हैं उसी प्रकार हमें स्थान विशेष अथवा कमरे के सम्बन्ध में भी निर्णय कर लेना उचित है। जो स्थान जिस वस्तु अथवा कार्य के योग्य ठहराया जाय उसे उसीके लिए समझना चाहिये। वस्तुओं के विषय में इस व्यवस्था से एक लाभ यह होता है कि यदि हम किसी अवसर पर अपनी कोई वस्तु किसी मित्र को कुछ दिनों के लिए मंगनी दे दें तो जब तक वह वस्तु वापस नहीं आती तब तक उसके रिक्त स्थान को देखकर हमें उसकी स्मृति बनी रहती है और ले जाने वाले की असावधनी अथवा दुष्टता

उसे सरलतापूर्वक खो देने में समर्थ नहीं हो सकती। प्रत्येक वस्तु को साधारणतः उसके उपयोग, औचित्य अथवा रक्षा की दृष्टि से विचार करके ही किसी स्थान पर रखा करते हैं और वही स्थान उस वस्तु के लिए अपना हो जाता है। बहुत लोग इस विचार के यहाँ तक आदी होते हैं कि यदि कोई वस्तु किसी समय अपने स्थान से हटाकर कहीं अन्य स्थान पर रख दी जाती है तो उन्हें एक प्रकार की बेचैनी-सी जान पड़ती है और वहाँ बैठकर कोई भी काम करने से उनका जी ऊब उठता है। इसी प्रकार दूसरी जगह हटकर सोने, बैठने, व्यायाम करने अथवा लिखने-पढ़ने आदि में भी मनुष्य का चित्त कई दिनों तक एक दम अस्थिर-सा रहा करता है।

पुस्तकालयों में पुस्तक सजाते समय भी हम सुव्यवस्था का विचार किया करते हैं। पुस्तकों का वर्गीकरण उनके विषय अथवा लेखकों के नाम की दृष्टि से पहले कर लिया जाता है और तब अक्षरों के क्रमानुसार उनकी सूची तैयार करके उन्हें आलमारी में स्थान दिया जाता है। अतएव यदि पुस्तकें अपने-अपने स्थानों पर नियमानुसार रक्खी गई हों तो बड़ी से बड़ी पुस्तकराशि में से आवश्यकता पड़ने पर हम कोई भी पुस्तक शीघ्र निकाल सकते हैं। बहुत से पुस्तक-प्रेमियों का अभ्यास तो यहाँ तक हो जाता है कि यदि वे चाहें तो अपनी सजायी हुई पुस्तकों में से कोई ग्रन्थ विशेष रात्रि के समय बिना प्रकाश की सहायता के ही निकाल लावें। समय की बचत और सुभीते की बात इससे बढ़कर और क्या हो सकती है? रुपये पैसे रखते समय भी सुव्यवस्था का विचार किया जा सकता है। देहात के बहुत से धनाढ्य घरों में यह चाल है कि वे आमदनी के रुपये एक ही सन्दूक में रखते समय भी इस बात का बिचार कर लेते हैं कि भिन्न-भिन्न व्यवसाय में अर्जित की हुई सम्पत्ति कुछ अलग-अलग ही रखी जाय। इस क्रिया द्वारा न केवल वह अपने बही-खाते का ही मिलान सरलतापूर्वक कर सकते हैं बल्कि एक विहंगम दृष्टि डालने पर भी

उन्हें एक ही मिनट के अन्दर इस बात का भी पता चल जाता है कि अमुक व्यवसाय से हमें अधिक आय की आशा है तथा अन्य कुछ व्यवसायों में हमें टोटा पड़ने का भय है।

विद्यार्थियों के कमरों में बहुधा मेजें, चारपाइयाँ अथवा कुर्सियाँ तक अनावश्यक वस्तुओं से लदी हुई पायी जाती हैं और इसका कारण अधिकतर उनके आलस्य के सिवाय और कुछ नहीं होता। वस्तु व्यवस्था के महत्त्व को ध्यान में रखते हुए यदि वे थोड़ा-सा भी अंग-संचालन किया करें तो उनके कमरे सदा सजे-सजाये और साफ-सुथरे दीख पड़ें और अव्यवस्थित वस्तु को देख कर परिणाम द्वारा उत्पन्न हो जाने वाला उनका अव्यवस्थित चित्त उनके आवश्यक अध्ययन में कभी किसी प्रकार की भी बाधा न उपस्थित कर सके। मानसिक क्रिया के विकसित होते अथवा मनन द्वारा अपने विचारों को सुदृढ़ बनाते समय पास की दीख पड़ने वाली वस्तुओं का हम पर कितना प्रभाव पड़ सकता है इसका विवेचन बहुधा हम लोग पहले नहीं कर पाते और अपने प्रयत्नों में पूर्ण सफलता न पा सकने पर पीछे पछताया करते हैं। हमारे प्राचीन वनवासी ऋषि इन छोटी-सी दीख पड़ने वाली बातों का भी उचित महत्त्व जानते थे और हमें उनसे इस बात में अपने जीवन के लिए बहुत उपयोगी शिक्षा मिल सकती है।

आय-व्यय

दैनिक व्यवहार में आवश्यकताओं का आकस्मिक आक्रमण करते रहना एक साधारण-सी बात है और यह भी स्पष्ट है कि अत्यंत चपल तथा सरल होने के कारण हमारा मन बहकाव के एक बहुत हल्के झोंके का भी शिकार शीघ्र ही बन सकता है। आक्रमण का प्रभाव एक प्रकार की मादकता का काम करता है जो थोड़े समय के लिए हमें मोहान्ध-सा कर देती है और दूर की वस्तुओं का वास्तविक रूप पहचान सकने का हममें सामर्थ्य तक नहीं रह जाता। ऐसे समय सामाजिक रूढ़ियों की तदनुकूल परिस्थिति में रहते हुए हमें अपने आदर्श का मान-दण्ड निश्चल रखना अत्यन्त दुष्कर होता है और हम अपनी बड़ी अथवा छोटी थैलो की कौन कहे, सहायकों की अनिश्चित कृपामात्र तक के सहारे मनचाही बात करने पर सहसा आरूढ़ हो जाया करते हैं। फिर तो इन सबके परिणाम का भयानक हो जाना कोई बड़ी-सी बात नहीं। आवश्यकताएं रक्तबीज की सन्तानों की भाँति अनेक नये-नये रूप धारण कर आना आरम्भ कर देती हैं और चलते-चलते इन सबको सन्तुष्ट करने की चेष्टा में अपनी निःसहायता देखकर अन्त में एक दिन कह देना पड़ता है कि अपने वर्तमान आय-व्यय का सामञ्जस्य रखना अब मेरे लिए असम्भव हो गया। इतना ही नहीं, यदि आय का आधार किसी की सहायतामात्र ही रह चुकी हो तो अपने शेष जीवन का भी आनन्दपूर्वक व्यतीत करना एक विकट समस्या है। अधिकतर आमरण चैन नहीं मिलता।

दैनिक व्यवहार की दृष्टि से हमारे गार्हस्थ्य जीवन के लिए आय-व्यय का पूर्ण सामञ्जस्य सबसे महत्त्वपूर्ण आदर्श है। आय निश्चित, अनिश्चित और कुछ निश्चित एवं कुछ अनिश्चित, प्रायः तीन प्रकार की, हुआ करती है। निश्चित आय का परिमाण सदैव निर्धारित

तथा विदित रहता है अतएव उसके बूते पर विश्वास रखना अथवा व्यय के समय सदा उसे ध्यान में लाना कठिन बात नहीं। और यही दशा उक्त तीसरे प्रकार की आय के निश्चिन्त अंश तक की भी कही जा सकती है। परन्तु अनिश्चित आय के आधार तथा परिमाण दोनों अनिर्धारित तथा कभी-कभी अनिर्दिष्ट तक होने के कारण उसके सामर्थ्य की कल्पना हम केवल अनुमान के ही सहारे किया करते है। ऐसी दशा में हमारा भूल कर जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं। परन्तु बहुधा देखा जाता है कि अपनी आय निश्चित रहते हुए भी हम अपने ज्ञान अथवा अनुभव से लाभ नहीं उठा पाते और नियमित रूप से अनुमान के अनुसार न चलने के कारण, कई बार धोखा खाकर पछताने तक लगते हैं। सच तो यह है कि आय के निश्चित होने की अपेक्षा मन का सुसंयत होना ही अधिक आवश्यक है क्योंकि मन पर थोड़ा भी अधिकार जमा लेना अपने उत्तरदायित्व को भलीभाँति समझ लेने के समान है और उत्तरदायी मनुष्य के लिए, अपने हानि-लाभ के विषय में सदा विवेचन करते रहने के कारण, ऐसी भूलें कर बैठना बहुत कम सम्भव है।

मन को डॉवाडोल बनाकर विचारों में सदा अनेक परिवर्तन लाते रहने में हमारी सामाजिक परिस्थिति का बड़ा भारी हाथ है। मनुष्य एक सामाजिक जन्तु है और उसे अपने वर्गवाले अन्य मनुष्यों के आचरण का अनुकरण किये बिना कल नहीं पड़ती। वास्तव में वह बचपन से ही अनुकरणशील है और इस स्वभाव की यह विशेषता है कि आगे बढ़कर मनुष्य इसके प्रभाव में आकर अन्धविश्वासी तथा हठधर्मी तक बन जाता है। परिणाम यह होता है कि अपने प्रत्येक दैनिक व्यवहार में वह काल्पनिक पैमाने के अनुसार बरतने लगता है। जीवन का मूलतत्त्व समझने अथवा उसके अन्तर्गत आनेवाली और शरीर, मस्तिष्क तथा हृदय से सम्बन्ध रखनेवाली वास्तविक आवश्यकताओं की उसे सुध नहीं रह जाती। समाज में वह देखता है

कि हमारी श्रेणी के लोग—जो ध्यानपूर्वक देखने पर बहुधा, उसकी दृष्टि से भी कुछ अधिक ऊँचे ही ठहरेंगे,—अमुक प्रकार से गृह-निर्माण करते हैं, अमुक प्रकार का भोजन-वस्त्र व्यवहार में लाते हैं अथवा अमुक प्रकार से उत्सवादि में व्यय किया करते हैं और वह बिना किसी अन्य बात की ओर ध्यान दिये उनका अनुसरण करने लगता है। कभी एक बार भी दायें-बाँयें दृष्टिपात करने का कष्ट नहीं उठाता। कहना न होगा कि ऐसे अवसरों पर बहुत से आदर्शवादी शिक्षितों के भी नियम ढीले पड़ जाते हैं और उनमें विचार-विपर्यय का दोष दिखलाई पड़ने लगता है। जीवन में आदर्श और व्यवहार का पूर्ण सामञ्जस्य दिखलाना बिरले मनुष्य का ही काम है।

परन्तु आय-व्यय को सुसंगत करने का उपर्युक्त प्रयत्न वास्तव में नैतिक अथवा मनोवैज्ञानिक मात्र होने के कारण सर्वसाधारण के लिए कुछ कठिन है और कदाचित् इसी विचार से प्रेरित होकर लोग व्यावहारिक साधनों का ही सहारा लिया करते हैं। ऐसे साधनों में लेखा अथवा हिसाब की उपयोगिता बड़ी भारी होती है। प्रत्येक वस्तु का—चाहे वह छोटी अथवा बड़ी हो—क्रय करते समय (उसका) मूल्य चढ़ाते जाना एक साधारण-सी बात है किन्तु अवसर पड़ने पर वह बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्ध होती है। शीघ्र ही काम आकर नष्ट हो जानेवाली अनेक वस्तुओं के विषय में यह सच है तो आपस के देन-लेन आदि के सम्बन्ध में आय-व्यय को अङ्कित करते जाना कितना लाभदायक होगा यह समझना कोई कठिन बात नहीं। छोटे-मोटे आय-व्यय का सदा लिखते जाना पहले-पहल एक झंझट का काम जान पड़ता है और बहुधा सचेत होकर काम करनेवाले भी शिथिलता दिखलाते हैं किन्तु दैनिक व्यवहार की अन्धाधुन्ध में, जब कभी विस्मृति के कारण प्रकाश की क्षीण किरणों का भी सहारा ढूँढते फिरना आवश्यक प्रतीत होता है और अपने निकटवर्तियों और सम्बन्धियों तक पर भिन्न-भिन्न प्रकार के सन्देह होने लगते हैं, उस

समय अवसर पर लिखे हुए थोड़े से अङ्क और अक्षर अथवा उनके ही आधार पर किया गया, लेखा आकर सहायक हो जाते हैं। हिसाब अथवा लेखा के द्वारा हमें अपनी आर्थिक स्थिति का ज्ञान होता रहता है जिससे व्यर्थ के बहकावों से अपने को बचा लेने का हमें एक अवसर मिल जाता है, मन को शान्ति प्राप्त होती है और आत्मा को एक स्वावलम्बन का बल मिलता है। इसके सिवा लेखा व्यक्तियों अथवा कुटुम्बों से भी बढ़कर बहुधा बड़ी-बड़ी संस्थाओं के लिए लाभदायक सिद्ध होता है। महात्मा गांधी का तो यहाँ तक कहना है "किसी भी संस्था का सविस्तर हिसाब उसकी नाक है। उसके बिना वह संस्था अन्त को जाकर गंदी और प्रतिष्ठाहीन हो जाती है। शुद्ध हिसाब के बिना शुद्ध सत्य की रखवाली असफल है।" इस प्रकार आय-व्यय का सामञ्जस्य स्थापित करने के साथ ही लेखा हमें और भी व्यापक रूप में सहायता प्रदान कर सकता है।

परन्तु लेखा के भी दो रूप हो सकते हैं। उपर्युक्त लेखा आय-व्यय के अनन्तर का है। आय-व्यय के प्रथम ही जो, अधिकतर अनुमान का आश्रय लेकर, स्थूल रूप से लेखा तैयार किया जाता है उसे आजकल की भाषा में बजट कहा करते हैं। बजट द्वारा हमें अपने आगामी कार्य-कलाप के सम्पूर्ण तथा सविभाग रूप का एक बार बहुत कुछ स्पष्ट आभास हो जाता है और साथ ही अपने कर्त्तव्य का वर्गीकरण तथा उसके प्रत्येक अङ्ग को सुनिश्चित तथा सुसंगठित देख कर अपने हृदय में एक प्रकार के ओज अथवा उत्साह का संचार होता है। किसी कुटुम्ब का बजट बनाते समय उसके पूरे गार्हस्थ्य जीवन पर एक बार दृष्टिपात कर लेना परमोपयोगी है। क्योंकि इसके द्वारा हमें उसके प्रत्येक अंश के महत्त्व पर पुनर्वार विचार करने का सुअवसर मिलता है और हम, अपने नये ज्ञान की सहायता से सचेत होकर, उसमें उचित सुधार तथा उस पर उचित व्यय कर सकते हैं। अतएव बजट द्वारा एक बार हमारा आत्म-निरीक्षण भी हो जाता है।

वेश-भूषा

वस्त्रों के पहिनाव आदि का विचार साधारण रूप से दो प्रकार से किया जा सकता है। आवश्यकता के अनुसार सर्दी, गर्मी अथवा वर्षा के प्रभावों से शरीर की रक्षा की दृष्टि से जिस प्रकार मानवी सृष्टि के प्रारम्भिक युगों में विचार किया गया होगा वह समयानुसार आज केवल क्लिष्ट कल्पना मात्र का ही विषय है। कई नवीन समाजों में इस समय आवश्यकता गौण रूप से भी गिनी जाने में असमर्थ है। चालू सामाजिक रंग-ढंग अथवा फैशन का ही आज कल सब कहीं बोलबाला है और उसीके एकसत्तात्मक राज्य में बीच वाले धार्मिक अथवा अन्य सामूहिक दृष्टिकोण तक आत्म-समर्पण कर चुके हैं। इनका अस्तित्व माध्यमिक तथा आधुनिक इतिहासों के अतिरिक्त नये प्रकाश की किरणों से किसी प्रकार बचे हुए अथवा कम प्रभावित किन्हीं कोनों में ही पाया जा सकता है। किन्तु सभ्यता के होते हुए भी आवश्यकता की दृष्टि से इस विषय पर विचार करना गम्भीर भाव से देखने पर सदा समीचीन कहा जायगा।

फैशन की दृष्टि से विचार करने पर सभी बातों के लिए मनुष्य अपने को दर्शकों से भरी नाट्यशाला के बीच में खड़ी उस कठ पुतली के समान समझने लगता है जिसके रूप रंग, हाव-भाव, आदि सभी बातें उसकी ओर निर्निमेष टकटकी लगाने वाली आँखों की अन्तर्वृत्तियों के ही अनुसार प्रदान की जाती हैं। कठ-पुतली के प्रत्यंग पर कितनी कीलें जड़ी हैं, कितने छिद्र कहाँ-कहाँ पर किए गए हैं तथा सजे सजाये भड़कीले आभूषणों के भीतर कैसा विकृत काष्ठ वर्तमान है यह बात यदि निर्जीव कठ-पुतली नहीं जान सकती हो तो उसका कोई अपराध नहीं, किन्तु फैशन के फेर में पड़कर थोड़े आडम्बरों की आड़ में

विपरीत रहकर यदि सजीव मनुष्य अपने हृदय की धड़कन छिपा रहा हो तो आश्चर्य की बात अवश्य है। कहते हैं, चलो मेले वा बाजार में मेरे लिए एक कोट का कपड़ा पसंद कर दो, क्योंकि ये वस्तुएँ दूसरे की ही पसद का अनुसरण करती हैं, आज कल अमुक चाल का जूता चला है अतएव चलो, आवश्यकता न रहने पर भी एक जोड़ा खरीद लावें अथवा अमुक ढंग की टोपी या पगड़ी अब लोग पसंद नहीं करते, इसलिए चलो, अब नया ढंग स्वीकार करें और पुरानी वस्तुएं पास रहने पर भी उन्हें सड़ने दें। क्या सदा स्वतन्त्रता का राग अलापने वाले सभ्य सज्जनों की मानसिक पराधीनता के उदाहरण में ये बातें स्थान नहीं पा सकतीं? क्या अपने सुभीते के ये त्याग अपने नैतिक बल की कमी के परिचायक नहीं कहे जा सकते? इन ऐसे सभी प्रश्नों के उत्तर कोई भी बुद्धिमान मनुष्य ठंडा मस्तिष्क रहते समय अपने हृदय से एकान्त में पूछ कर शीघ्र दे सकता है। इसमें कोई भी कठिनाई नहीं।

परन्तु वेश-भूषा में कभी-कभी कट्टरता भी देखी जाती है और यहाँ पर भो इसकी उत्पत्ति अपनी चिरसंगिनी धर्म-भीरुता की ही गोद में हुआ करती है। अमुक धार्मिक सिद्धान्तों का रहस्य क्या हैं अथवा किन गूढ़ तत्त्वों को सदा ध्यान में रखते हुए किन-किन विशिष्ट आचरणों का स्वीकार लाभदायक है अथवा किस प्रकार आचार-विचार के बीच सामञ्जस्य स्थापित करने पर साधकों को अपनी साधना में सफलता मिल सकती है आदि महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर पूर्ण रीति से विचार करने का कार्य तो मनुष्य की दृष्टि से दूर हो जाया करता है और इनका स्थान अनेक भिन्न-भिन्न विधि-विधान तथा वेष-भूषा के रंग-ढंग ले लेते हैं। अमुक सम्प्रदाय की उत्पत्ति अमुक देश में हुई थी और वहीं के मुख्य धर्म-प्रवर्तकों तथा अन्य निवासियों की वेश-भूषा अमुक प्रकार की रही थी इस कारण शारीरिक अथवा वर्तमान भौगोलिक सुविधाओं को ध्यान में न लाकर

दूसरे देश तथा दूसरी परिस्थितियों में भी वही वेश-भूषा स्वीकार करेंगे, यह एक ऐसी दलील है जिसे सिवाय हठधर्मीपन और रूढ़िवाद के और दूसरा क्या कहा जा सकता है ? आजकल का फैशन वाला भूत एक प्रकार से अपने इसी पुराने भाई का एक रूपान्तर मात्र है। नये के सामने अब पुराना बहुत कुछ दबा जा रहा है।

मज़हब को वेश-भूषा मात्र समझने वाले मध्यकाल में एकाध ही परिवर्तनों से रुष्ट होकर आत्म-बलिदान तक करना ठान लेते थे और ऐसी कट्टरता के अनेक उदाहरण इस बीसवीं शताब्दी में भी मिल सकते हैं, परन्तु इस आत्म बलिदान से कुछ ही कम हम उन शारीरिक साधनाओं को समझते हैं जिनमें फैशन की रंगीली मदिरा से उन्मत्त होकर पेरिस तथा लंदन की लेडियाँ बहुधा अपटूडेट अर्थात् समयानुकूल बनने की अभिलाषा से प्रतिदिन प्रवृत्त हुआ करती हैं। इन उपर्युक्त दोनों हठधर्मियों में केवल यही अन्तर है कि एक मज़हब एवं दूसरा फैशन की दुहाई देता है। दोनों की मानसिक पराधीनता एक ही प्रकार प्रबल है और दोनों पहला स्वर्ग तथा दूसरा सौन्दर्य की आन्तरिक अभिलाषा में अपनी प्यारी सुविधाओं का बलिदान करते हैं और अनेक कष्ट उठाते हैं। उन्हें वाह्य प्रकृति तथा अपनी आन्तरिक अनुभूति का स्वाभाविक सामञ्जस्य अभीष्ट नहीं। वह इससे मुंह मोड़ कर दूर भागते हैं और एक लोभी अथवा प्यासे मृग की भाँति किसी काल्पनिक आनन्द की खोज में दौड़ लगाते रहते हैं।

कहते हैं कि गहनों का प्रचार सौन्दर्य-वृद्धि के सिवाय अपनी समृद्धि प्रदशित करने की अभिलाषा से भी आरम्भ हुआ था। कुछ दिनों के अनन्तर रुपये पैसे को गहनों के रूप में परिवर्तन करके लुटेरों के भय से, हल्की वस्तु आसानी से लेकर भागने के विचार से भी ये उपयोगी समझे जाने लगे। परन्तु इन तीनों में से एक भी समाधान को औचित्य की कसौटी पर सफलतापूर्वक हम नहीं कस सकते। गहनों तथा चमकीले वस्त्रों से सौन्दर्य-वृद्धि करने की इच्छा रखने

वाले कदाचित् सच्चे सौन्दर्य की परिभाषा अथवा अनुभूति से परिचित नहीं और न उन्हें सिवाय रूढ़ि प्रतिपालन की उदारता से काम लेना है। सौन्दर्य का एक महत्त्वपूर्ण अवयव उसकी स्वाभाविकता है जो किसी भी प्रकार के कृत्रिम सहारे की अपेक्षा नहीं कर सकती और यदि सौन्दर्य ऐसी वस्तु का वास्तविक मूल्य परखने के योग्य व्यक्ति भी कहीं बनावटीपन के धोखे में आ जाय तो फिर आश्चर्य का क्या ठिकाना है ! रही समृद्धिशीलता के प्रदर्शन की बात; समृद्धि तथा वैभव के प्रदर्शन-प्रणाली का प्राचीन समय में चाहे कुछ भी महत्त्व रहा हो, किन्तु अंततोगत्वा बड़प्पन तथा गाम्भीर्य की कमी के कारण, सज्जनों के समाज में उनका स्वागत नहीं किया जा सकता। आर्थिक वैभव, शारीरिक बल अथवा पाण्डित्य की वास्तविक प्रतिष्ठा इसीमें है कि अतुलनीय होने पर भी अपनी बड़ाई के ही कारण वह सदा नम्र तथा मर्यादित रहे और बाहरी दिखावे मात्र का कभी आश्रय न ले। इस तरह यह समाधान भी अभिप्राय के प्रतिकूल ही ठहरता है और तीसरी बात क्षण स्थायो होने के कारण कोई अपना प्रभाव नहीं रखती तथा उपेक्षणीय है। इसके सिवाय गहने के कारण जो-जो अत्याचार या हानियाँ आज तक हुई हैं वे अकेली भी इसके विरुद्ध पर्याप्त हैं।

वेश-भूषा की सादगी यदि स्वच्छता से संयुक्त हो और उसे धारण करने वाले की परिस्थिति के अनुकूल तथा उसकी प्रकृति को सच्चे रूप में प्रदर्शित करने वाली सामग्रियों का सामञ्जस्य हो तो वास्तव में उससे बढ़कर सौन्दर्य प्रदान करने वाले कोई वस्त्र या आभूषण नहीं हो सकते। मनुष्य का सबसे बड़ा महत्त्व उसके मनुष्यत्व में है और मनुष्यत्व वह गुण है जिसका बाहरी बातों से अधिक आभ्यन्तरिक विचारों तथा उचित कार्यों से ही संबंध है। इस कारण वेश-भूषा यद्यपि मनुष्य की पहचान कराने में बहुत कुछ सहायता दे सकती है और प्रथम परिचय के समय इसके सहारे की गई धारणा बहुधा

स्थायी भी हो जाया करती है। किन्तु फिर भी अन्य बातों की अपेक्षा इसकी ओर अधिक ध्यान देना समय तथा सम्पत्ति का दुरुपयोग करना ही कहा जा सकता है। वेश-भूषा का उपयोग मनुष्य की कतिपय आवश्यकताओं की पूर्ति मात्र कर लेना है। यह एक साधन मात्र है और इसी कारण इसे उद्देश्य की भाँति मानकर इसकी उन्नति में उचित से अधिक दत्तचित्त होना ठीक नहीं।

वेश-भूषा के भी दो रूप हो सकते हैं। अपने स्थायी रूप में यह मनुष्य की अन्तरात्मा का परिचय दिलाने का साधन है और अपने क्षणिक रूप में इसका काम केवल देश-काल अथवा अवसर विशेष का एक सूचना मात्र देना है इस प्रकार इन दोनों के लक्ष्य भिन्न-भिन्न हैं। किन्तु नियम तथा अपवाद की विभिन्नता जिस प्रकार समाज के वास्तविक उद्देश्य की पूर्ति में कोई बाधा नहीं पहुँचाती बल्कि बहुत से गुप्त रूप से छूट जाने वाले रहस्यों को और भी स्पष्ट करके प्रकट कर देती है उसी प्रकार इन दोनों रूपों के भेदों से भी मनुष्यत्व के एक-निष्ठ विकास में अड़चन पड़ने की अपेक्षा सुविधा ही मिला करती है। ऊँची दृष्टि से देखने पर ये दोनों एक ही रूप के दो अंग हैं और उचित मर्यादा के भीतर हमें इन दोनों की आवश्यकता है।

बातचीत

मनुष्य के लिए अपने मनोगत भावों को व्यक्त करने का बातचीत से बढ़कर कोई दूसरा साधन नहीं। लिखना केवल उतना ही काम दे सकता है जितना शब्दों द्वारा प्रकट किया जा सकता है और शरीर के अंगों द्वारा संकेत करना तभी तक हो सकता है जब तक उसका देखने वाला आमने-सामने हो। ध्वन्यात्मक अव्यक्त स्वर तथा चित्र आदि साधन भी बहुत कुछ अनुमान पर ही अवलम्बित हैं। परन्तु बातचीत में हम इन सब का कुछ न कुछ प्रयोग कर सकते हैं। तथा इन सबका लाभ एक ही अवसर पर उठा सकते हैं। यहीं तक नहीं, प्रत्युत आपस में बातचीत करनेवाले यदि आमने-सामने हों तो उनके सारे व्यक्तित्त्व का एक दूसरे पर ऐसा प्रभाव पड़ता है जिससे बातचीत के शब्दो द्वारा अस्पष्ट रह जानेवाले भाव बहुत कुछ अंशों में स्पष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार बातचीत वह साधन है जिसमें भिन्न-भिन्न कई साधनों के मेल के सिवाय एक ऐसा वातावरण भी उपस्थित हो जाता है जिससे मनुष्य के लिए पारस्परिक अभिप्राय का समझना-समझाना सरल है।

परंतु बातचीत के गुणों से सब कोई एकही प्रकार लाभ नहीं उठा सकते। इसके लिए थोड़ी बहुत बुद्धि के सिवाय अच्छे अभ्यास की भी आवश्यकता है। वाक् चतुर वीरों के सामने पड़ने पर साधरण अथवा बच्चे लोगों की बहुधा बोलती बन्द हो जाया करती है और किस बात को कहाँ से संभालें अथवा कब क्या उत्तर दें यह उनकी समझ में नहीं आता और आत्म-समर्पण करने तक की नौबत आ जाती है। कारण यह कि पहला मनुष्य दूसरे की निरभ्यस्त वाणी का ज्ञान प्राप्त करते ही उसकी असावधानी से लाभ उठाने के उद्देश्य से वाग्जाल निर्माण करने की चेष्टा करता है और उसीके कतिपय प्रक्षिप्त शब्दों

का एक कृत्रिम आधार मान कर व्यर्थ शब्दों से भरे वाक्यों द्वारा घुमा-फिरा कर देखते ही देखते मकड़ियों की भाँति एक दुर्भेद्य व्यूह खड़ाकर देता है। ऐसे अवसरों पर दूसरा तभी बच सकता है जबकि उसका मस्तिष्क ठंडा हो तथा उसका अपने सिद्धांत पर अटल विश्वास हो। कठिन समस्याओं की उलझन सुलझाने के लिए बातचीत करने के अवसर पर केवल वही सफल हो सकता है जिसे अपने विषय का पूर्ण ज्ञान हो, अपने उद्देश्य की पूरी पहचान हो तथा उस पर ध्यान बनाये रखने के लिए जो निरन्तर सावधान हो तथा जो धैर्य और स्वावलम्ब के कारण दृढ़ तथा बलवान भी हो।

बातचीत करते समय दूसरे पर प्रभाव डालने की इच्छा रखने वाला उस पर सदा दृष्टिपात करता रहता है तथा अपना हाथ पास की वस्तुओं या अपने शरीर पर ठोका करता है अथवा अपनी तर्जनी अंगुली द्वारा संकेत किया करता है, उसे प्रसन्न करने की अभिलाषा करने वाला सदा बीच-बीच में मुस्कराया करता है, उससे घृणा करने-वाला नाक सिकोड़ता है, उस पर बिगड़ने वाला तथा दबाने की इच्छा करने वाला भौं चढ़ाता है तथा उसकी न सुनने वाला इधर-उधर आंखे फेरा करता है अथवा अपना आसन बदलता रहता है। इसके सिवाय स्पष्टवादी तथा उद्यमशील मनुष्य बहुधा मितभाषी होते हैं, चाटुकार अथवा अस्पष्टवादी एवं बेकार बहुधा भूमिका बाँधा करते हैं; अपने शब्दों पर पूर्ण अधिकार न रख सकने वाले अधिकतर छोटे-छोटे सखुन तकिया का प्रयोग करते हैं तथा घमंडी अथवा गर्वीले मनुष्य बातों के सुनते समय केवल मुंह बना कर अक्सर हँस दिया करते हैं। इसी प्रकार स्वरों को ऊँचा करके बातचीत करने वाले अधिक-तरनिर्भीक अथवा स्वावलम्बी होते हैं तथा नीचा स्वर करनेवाले बहुधा डरपोक अथवा सन्देहवादी होते हैं। परन्तु उपर्युक्त क्रियाओं में से अधिकांश का कारण वास्तव में मनोगत भावों को पूर्ण रूप से व्यक्त कर सकने वाले शब्दों की कमी के सिवाय दूसरा नहीं हो सकता।

ऊपर की बातें विशेष कर दो के बीच की बातचीत के सम्बन्ध में लागू हैं। बातचीत का यह रूप संसार के विविध व्यवहारों में अधिकतर देखा जाता है और कभी-कभी इसके अनेक उदाहरण अपरिचितों के प्रथम परिचय अथवा दो सज्जनों के पारस्परिक प्रेम-सम्भाषण तथा प्रेम, कलह आदि के अवसर पर भी मिल जाया करते हैं। परन्तु बातचीत का रूप वह होता है जब कि दो-चार-दस मनुष्यों की मंडली एकत्र होने पर उनमें से एक कुछ कहते तथा दूसरे सुनते अथवा कभी-कभी बीच में कुछ बोला करते हैं। यह अवसर बहुधा आपस की सलाह करने अथवा अवकाश की दशा में गप-शप लड़ाने के समय आया करता है। ऐसी दशाओं में सभी व्यक्तियों का उत्साह, उत्तरदायित्व, व्यग्रता अथवा स्वार्थ एक ही प्रकार का नहीं रहा करता। इस कारण इनमें शिथिलता तथा असावधानी अधिक अंशों में देखने को मिलती है। अवकाश की बातबीत में कभी-कभी अवसरानुकूल तथा सबकी रुचि के अनुसार बातें न कहकर कहनेवाला अपनी बहादुरी, अपने अनुभव अथवा अपने कुल तथा व्यक्तित्व के महत्त्वों से भरी अनर्गल बातें बकता चला जाता है और सुननेवालों में से अधिकांश मौन धारण किए अथवा कृत्रिम मुस्कराहट द्वारा झूठा सम्मान दिखलाते हुए भीतर ही भीतर कुढ़ा करते हैं। कभी-कभी तो ऐसी गोष्ठियों का लक्ष्य कोई एक वा अनेक अनुपस्थित व्यक्ति ही बन जाते हैं, जिस पर नितान्त सूक्ष्म जानकारी पर निर्भर करते हुए भी एकत्र वीर अपने वाग्बाणों की वर्षा आरम्भ कर देते हैं जो विपक्षी के न रहने से निर्विघ्न होने के कारण बहुत कुछ धूम मचाकर के ही थमा करती है। इसी प्रकार एकाध अवसरों पर यह भी देखने में आता है कि ऐसे अनुत्तरदायी सज्जन बहुधा साधारण-सी योग्यता रखते हुए भी बड़े-बड़े महापुरुषों अथवा बड़ी-बड़ी संस्थाओं की निर्भीक आलोचना करने लग जाते हैं और उनकी पारस्परिक तुलना कर परिणाम निकालने में इतनी शीघ्रता दिखलाते हैं जितनी वे अपने

बचपन के खिलवाड़ों तक में न कर चुके होंगे। जान पड़ता है कि बड़े से बड़े लोग भी पतंग के समान ऊपर खिल रहे हैं; किन्तु, उन सबकी डोरी इन्हीं कुछ व्यक्तियों के हाथों में रहने के कारण, मनमाने ढंग से बेखटके वे ऊँचे अथवा नीचे किये जा सकते हैं। अंगुलियों के इधर-उधर कर देने अथवा हाथ के दो एक हल्के झटकों की ही देर है। जब महान पुरुषों की यह दशा है तो किसी विशेष समुदाय, समाज, सम्प्रदाय अथवा संस्था ऐसे निर्जीव पदार्थों की चर्चा क्या होगी।

बातचीत करनेवाले के लिए सबसे आवश्यक तथा महत्त्वपूर्ण गुण उत्तरदायित्व का है। बात जो एक बार मुँह से बाहर हो जाती है वह गए वक्त की ही भाँति फिर लाख करने पर भी लौटकर नहीं आ सकती और न बाद में किए गए अनेक प्रयत्न किसी भी प्रकार वह पहला रंग फिर से जमा सकते हैं। इस कारण जो कुछ कहा जाय वह भरसक विश्वस्त सूत्रों के आधार पर अथवा सबल प्रमाणों तथा दायी व्यक्तियों पर आश्रित हो एवं अर्थशास्त्री कला के अनुसार भरसक इस प्रकार नपी-तुली भाषा में व्यक्त किया जाय जो, सावधानी के साथ सुसंयत बनी होने के कारण, आवश्यकता तथा औचित्य की दृष्टियों से निर्बल अथवा अधिक सबल न बतायी जा सके। बातचीत के ढंग तथा वेश-भूषा से ही किसी व्यक्ति के विषय में लोग पहिले-पहल अपनी धारणा स्थिर किया करते हैं और ऐसी धारणाएं एक बार बन चुकने पर आगे बहुत कम बदला करती हैं। इस कारण सच्चे मनुष्य को अपनी बातचीत में और भी सावधान रहना चाहिए। बातचीत द्वारा अपना अभिमत परिणाम चाहनेवाले के लिए यह आवश्यक है कि वह दूसरे की बातों को आरम्भ से ही ध्यानपूर्वक सुनता चले तथा उसकी मुखाकृति पर प्रकट होते रहनेवाले भावों का निपुणता के साथ निरीक्षण करता रहे। इस क्रिया से उसे यह लाभ होगा कि प्रत्येक पल पर यदि वह चाहे तो अपने कहे हुए वाक्यों का प्रभाव जाँच सकता है और इन्हीं परीक्षाओं के सहारे अपने आगामी वाक्यों के रंग-ढंग में

उचित परिवर्तन कर सकता है। बातचीत करते समय व्यर्थ अथवा अनुचित विषयों का समावेश होने देना एक महत्त्वपूर्ण अवसर का दुरुयोग करने के साथ ही आगे के लिए एक हानिकारक धारणा को स्थान देना भी है। अतएव भविष्य के पश्चाताप से छुटकारा पाने की इच्छा रखने वाले को ऐसी भूल कभी न करनी चाहिये। मनुष्य की विविध मनोवृत्तियाँ उसके मनुष्यत्व की सच्ची कसौटी होती हैं और इन अन्तस्थल की वस्तुओं को समुचित रीति से ऊपर लाकर दर्शाने के लिए बातचीत ही एक मात्र अचूक साधन है। अतएव बातचीत का नियमित करना वास्तव में अपनी मनुष्यता की रक्षा करने के समान है।

ग्राम-सेवा

उपक्रम

अनेक सज्जन, बहुधा, यह कहते हुए देखे जाते हैं कि ग्रामों में समुचित सुधारों का प्रवेश होना अत्यन्त कठिन है। ग्रामीण सुधार-चर्चाओं की परवा नहीं करते, सभी बातों को अपरिचित बनकर ही देखते हैं और प्रत्येक नयी बात से एक प्रकार से भड़कते हुए से जान पड़ते हैं। किसी बात को तबतक वे नहीं अपनाना चाहते जबतक उनके हृदयों में उसकी अच्छाई के प्रति पूर्ण रूप से विश्वास न हो जाय और उससे किसी प्रकार की हानि की आशंका न दूर हो जाय। वे सुधारों के लिए चेष्टा करनेवालों को भी अपने से नितांत भिन्न समझ लिया करते हैं और कभी-कभी उन्हें यह भी प्रतीत होने लगता है कि सारी बातें किसी स्वार्थ-साधन के प्रयत्न में की गई होंगी तथा आगंतुक सुधारक का उद्देश्य एक सच्ची समाज-सेवा न होकर केवल बनावटी आडम्बर अथवा कोरा प्रचार मात्र ही हो सकता है।

उक्त बातें बहुत दूर तक सच्ची हो सकती हैं, किन्तु, यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो, सुधारों के प्रति ग्रामीणों की उदासीनता के वे ही एक मात्र कारण नहीं हैं। यदि कोई ग्रामीणों के मध्य उनके साथ पूर्ण रूप से हिलमिल कर तथा उनके साथ आत्मीयता का घनिष्ठ नाता जोड़कर रहने लगे और क्रमशः उनमें सुधार की बातों का प्रचार कर उनके अनुसार स्वयं बरतता हुआ सबके समक्ष एक व्यावहारिक एवं प्रत्यक्ष उदाहरण रखने के प्रयत्न भी करे तो भी कुछ बातें ऐसी दीख पड़ती हैं जिनसे बाधा पहुँच ही जाती है। इन बातों की जानकारी तभी हो सकती है जब ग्रामीणों के मध्य कुछ दिनों तक रहकर उनकी प्रत्येक मनोवृत्ति की परीक्षा की जाय और उनके व्यवहारों को भी परखा जाय। इसके लिए गहरे अध्ययन एवं अन्वेषण की आवश्यकता

है, जिसके फलस्वरूप कुछ ऐसी बातों का पता चलेगा जो ग्रामीणों में व्यापक नियमों का काम किया करती है।

हमारे गाँव अत्यन्त प्राचीनकाल से चले आते हैं। उनकी उत्पत्ति के अनंतर उनके बाहर कितने उलट-फेर हुए, कितने आंदोलनों का आरंभ एवं अन्त हुआ और कितनी बड़ी-बड़ी घटनाएं घटीं, जिनके अवशेष चिह्न नगरों एवं राजधानियों की सीमाओं के भीतर आज भी देखने को मिलते हैं, किन्तु हमारे गाँवों पर उन बातों का पूर्ण प्रभाव न पड़ सका। अपने समय में सभी बातों की हलचल पूरी रही और उनकी आँधी गाँवों के ऊपर से एक झोंके के साथ आकर चली गयी। उनके विषय में गाँववालों को क्षणिक संवाद मिले, उनके सम्बन्ध में उन्होंने आपस में चर्चा की, उपलब्ध प्रवादों के आधार पर उनकी रूपरेखा एवं परिणामादि की, अपनी धारणा निश्चित की और फिर अपने पुराने कामों में लग गए। उनके विचारों में उक्त बातों के कारण कोई क्रांति नहीं उत्पन्न हो सकी, बल्कि उनकी मानसिक स्थिति में काल-क्रमानुसार एक अपने ढंग का ही विकास होता रहा। ग्रामीणों का दृष्टिकोण, इसी कारण, कुछ विलक्षण रूप से निर्मित हो गया है, जसका आमूल परिवर्तन किए बिना, किसी प्रकार के भी उक्त सुधारों में सफलता निरा स्वप्नमात्र है।

ग्रामीणों का दृष्टिकोण कई विभिन्न धारणाओं को मिलाकर, उनके एक समन्वित रूप में, विकसित हुआ है और उसका विश्लेषण कुछ इस प्रकार हो सकता है। सबसे पहली बात जो उनके भीतर सदा के लिए घर कर चुकी है वह उनकी वंश-प्रतिष्ठा एवं मर्यादा की महत्ता है। प्रत्येक परिवार अपने पूर्वजों को अन्य कुल के पुरखों से कहीं अधिक महान एवं प्रतिष्ठित समझता है, उनके द्वारा प्रचारित नियमों को भंग नहीं करना चाहता और न उनके द्वारा किसी काल में अपनाये गए कार्यों अथवा जीविकार्थ स्वीकृत व्यापारों में भी किसी प्रकार का परि-वर्तन ही करना चाहता है। परिस्थिति एवं देश-काल के अनुसार भी

वह उनमें कुछ उलट-फेर करना नहीं चाहता। वह उसकी परंपरा को अक्षुण्ण देखना चाहेगा और असफलता होने पर अपनी शक्तिहीनता समझेगा। अपनी पुरानी लकीर का वह इतना पक्का फकीर है कि उसे त्याग कर तथा कुछ भिन्न मार्ग ग्रहण करअधिक सफल हो जाने-वाले भाई के भी प्रति वह द्वेष करेगा।

दूसरी बात जो इस सम्बन्ध में लक्षित होती है वह एक ग्रामीण की, किसी भी दूसरे व्यक्ति के प्रति, संकुचित भावना है, जो उसके हृदय को पूरा खुलने नहीं देती। वह किसी प्रकार के भी व्यवहार में अवसर आने पर अपनी सभी बातें प्रकट नहीं करना चाहता। कुछ को अपने भीतर अवश्य गुप्त रखना चाहता है। यह प्रत्येक भाव अथवा भावना को गोपनीय समझने की प्रवृत्ति कभी-कभी उसे बहुत हानि पहुँचा देती है और उसे बहुधा पछताना भी पड़ता है। किन्तु वह अपने प्राचीन स्वभाव और पुरातन संस्कारों से विवश है और वह अन्य वैसे मौकों पर भी वैसा ही बर्त्ताव करेगा। यह आत्म-गोपन की भावना कदाचित् उस काल की देन है, जब किसी समय आपस में शत्रुता का भाव अधिक प्रबल था और हर एक दूसरे से हर बात में 'छनका' वा सचेत रहा करता था।

इसी प्रकार एक तीसरी बात भी दीख पड़ती है, जिसका प्रभाव उक्त दोनों में से किसी से भी कम नहीं। प्रत्येक ग्रामीण किसी-न-किसी रूप में 'दैव' पर ही भरोसा रखने का आदी है। यदि किसी कार्य में वह सफलता की आशा करता है, तो उस बात को प्रकट करते समय 'यदि भगवान चाहेंगे तो' कह कर ही विश्राम लेगा, और यदि कहीं असफलता हो गयी, तो भी 'जैसी उनकी मर्जी' कहकर सन्तोष करेगा। कोई कार्य वह अपने बल-बूते के सहारे करना नहीं चाहता। उसके हृदय में इस बात के प्रति पूर्ण आस्था है कि जो भी कुछ होता है, उसके पीछे सदा एक अलक्षित शक्ति काम किया करती है तथा प्रत्येक

काय और उसके परिणाम का लेखा-हिसाब अज्ञात रूप से कहीं संचित रखा हुआ रहता है।

इसके अतिरिक्त हमारे ग्रामीणों के अन्दर कुछ महत्त्वपूर्ण बातों की कमी भी दिखलाई पड़ती है, जो वर्त्तमान काल के लिए अत्यन्त आवश्यक है। एक तो उनमें राजनीतिक चेतना का अभाव है, जिस कारण उन्हें अपने उस प्रकार के अधिकारों अथवा कर्त्तव्यों का ज्ञान नहीं हो पाता और न वे उनका उचित उपयोग ही कर सकते हैं। इसी प्रकार, इसके साथ ही, उन्हें हम स्वास्थ्य सम्बन्धी चेतना से भी रहित कह सकते हैं, क्योंकि ग्रामीणों की रहन-सहन की जितनी प्रेरणा धार्मिक भावना से मिलती है, उतनी वैज्ञानिक नियमों के ज्ञान से नहीं और धार्मिक आचारों के लिए विहित विधानों का मूल आधार कोरी पवित्रता की भावना है, जिसके रहस्य को समझने की ओर कोई ध्यान भी नहीं देता। इसके सिवाय हमारे ग्रामीणों के अन्दर उस जोखिम उठाने के साहस की भी कमी है, जिसके द्वारा दुनिया में एक-से-एक बड़े काम हो चुके हैं।

ग्रामीणों का दृष्टिकोण इन जैसी बातों के कारण कुछ जटिल-सा भी लगा करता है और कभी-कभी सहसा समझ में नहीं आता कि उसके रहते क्या करना चाहिए। परन्तु स्थिति की यह गम्भीरता ऐसी नहीं, जो कभी दूर नहीं हो सकती। इसके लिए धैर्य, सावधानी एवं पर्याप्त समय अपेक्षित है, जिन पर प्रत्येक सुधारक को पूरा ध्यान देना आवश्यक होगा। इस कार्य में केवल व्याख्यान, प्रदर्शन वा प्रलोभन मात्र ही सफलता नहीं ला सकते।

विषय प्रवेश

परिस्थिति से पूर्ण परिचित और साधन एवं संगठन से भली-भाँति सुसज्जित होकर जिस समय कोई कार्यकर्त्ता अपने उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए उद्यत होता है उस समय सबसे मुख्य प्रश्न उसके सामने अपने कर्तव्य-ज्ञान का आता है। क्या उसे पता है कि जिस आदर्श ग्राम-जीवन को लक्ष्य करके उसने सारी तैयारियाँ की हैं उसका निश्चित रूप क्या है? वह कौन-सा चित्र है जिसको अपने सामने रखता हुआ वह तदनुसार कोई प्रतिरूप खड़ा करने जा रहा है? उसका आकार-प्रकार क्या है? उसकी सीमा क्या है? उसका रूप रंग अंत में जाकर, क्या होगा? उसके कौन-कौन मुख्य अंग वा अवयव होंगे और उनमें से प्रत्येक की विशेषता क्या होगी? उनमें से किस रूप मे तथा किस सीमा तक ग्रामीणों द्वारा अपनाया जाना श्रेयस्कर समझा जा सकता है? इसके सिवाय हमारे कार्यकर्त्ता के लिए यह भी जान लेना परमावश्यक है कि उक्त जीवन के किस पहलू पर हमें सर्वप्रथम ध्यान देना चाहिए तथा किस प्रकार अपने कार्यक्रम में अग्रसर होते हुए उसे भिन्न-भिन्न विषय हाथ में लेते जाना चाहिए।

भारतवर्ष के ग्रामों का इतिहास जिस प्रकार अत्यंत प्राचीन है उसी प्रकार यहाँ के ग्राम जीवन तथा ग्रामीण परंपराओं की उत्पत्ति एवं विकास की कहानी भी बहुत पुरानी है। ग्रामीणों के खान-पान, वेश-भूषा रहन-सहन आदान-प्रदान, आचार-व्यवहार, आदि, अर्थात् उनके व्यक्तिगत एवं सामूहिक जीवन के संपूर्ण कार्य-कलाप का कौन-सा अंश कब और किस रूप में स्वीकृत हुआ और कब-कब तथा किस-किस प्रकार उसे बाहरी वा भीतरी कारणों से न्यूनाधिक प्रभावित कर उसके बिगड़ने वा सुधरने में योग दिया अथवा उसका

वर्त्तमान स्वरूप सभी दृष्टियों से विचार करने पर कहाँ तक अच्छा वा बुरा कहा जा सकता है इत्यादि बातें प्राचीन शोध वा वैज्ञानिक विवेचन से संबंध रखती हैं जिनके विषय में चर्चा करने की हमें इस अवसर पर कोई आवश्यकता नहीं जान पड़ती। हमें इस समय केवल इतना ही जानना है कि वर्त्तमान ग्राम-जीवन का कौन-सा पहलू किस स्थिति में है, उसका निश्चित रूप क्या है, उसकी प्रगति इस समय हमारे आदर्श जीवन के उन्मुख वा विमुख होती जा रही है और तदनुसार हमारे लिए इस विषय में क्या करना उचित होगा।

हमारे उद्देश्य इस समय समाज-शास्त्र के अध्ययन से सम्बन्ध रखनेवाला वा शुद्ध सैद्धांतिक नहीं किन्तु विषय के प्रत्यक्षीकरण द्वारा उसके यथासाध्य सुधार से संबंध रखनेवाला अथवा सीधा सादा एवं व्यवहारिक है। हम ग्रामीण जीवन के यथासंभव प्रत्येक अंग के प्रस्तुत रूप को सरसरी तौर पर परखने का प्रयत्न करेंगे देश-कालानुसार उसके दोष-गुण का कुछ विवेचन करेंगे और उसके श्रेष्ठ आदर्शों की ओर यदा-कदा ध्यान आकर्षित करते हुए, उसके आवश्यक सुधारों की ओर भी संकेत करते जाने की भरपूर चेष्टा करेंगे। विषय अत्यन्त विस्तृत एवं गहन है, अतएव उसके केवल महत्त्वपूर्ण अंशों पर, मोटे तौर से ही यहाँ विचार किया जा सकता है। हाँ, इस बात की स्मृति सदा बनी रहेगी कि जो कुछ भी विवरण दिये जाते हैं उनके द्वारा एक आदर्श ग्राम-जीवन की रूप-रेखा प्रस्तुत करना हमारा मुख्य उद्देश्य है।

ग्राम सेवा के आवश्यक कार्यक्रम में हमारे युवक कार्यकर्त्ता कहाँ तक हाथ बँटा सकते हैं यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। युवक कार्यकर्त्ताओं का मस्तिष्क विविध कल्पनाओं का उपजाऊ क्षेत्र होता है और उनका हृदय अनियंत्रित उमंगों का क्रीड़ास्थल बना रहता है। अतएव देश की उन्नति एवं जागृति के सम्बन्ध में उठनेवाली भावनाएं उन पर अपना तात्कालिक प्रभाव डाले बिना नहीं रह पातीं। इसी नियमानुसार हम

देखते हैं कि गंभीर विचार वाले बड़े-बड़े नेताओं की 'गाँव की ओर' संबंधी पुकार सुनकर आजकल हमारे युवक भी उद्योगशील होने लगे हैं। स्कूलों, कालेजों तथा विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों में इस विषय की चर्चा क्रमशः बढ़ती जा रही है और कहीं-कहीं छुट्टी के दिनों में प्रत्येक गाँव में घूमकर कार्य करने की पद्धति पर पूरी गंभीरता के साथ विचार भी किया जा रहा है। थोड़ी शिक्षा पाकर अथवा भली-भाँति शिक्षित हो जाने पर भी कोई काम न मिल सकने के कारण देहाती घरों में बैठे हुए अनेक युवक अपने-अपने गाँवों अथवा पड़ोस के टोलों-महल्लों को सुधारने की ओर दत्तचित हैं और अपनी बातचीत वा लेखों द्वारा वे बहुधा अपने व्यक्तिगत विचारों को भी प्रकट किया करते हैं। सारांश यह कि पाश्चात्य सभ्यता की झलमलाहट की चका-चौंध में पड़नेवाले शिक्षार्थी एवं शिक्षित वर्ग दोनों ही इस समय केवल आलोचना मात्र को ही इतिश्री नहीं समझते, बल्कि वर्त्तमान वातावरण के अनुसार कुछ करने की ओर भी प्रवृत हैं।

इन जैसी बहुत सी अन्य बातों को भी देख कर हमें देश के भविष्य के प्रति शुभलक्षण दीख पड़ते हैं और हमारे हृदय में ऐसी आशा बँधती जा रही है कि हमारा समाज भी एक न एक दिन संसार की उन्नत जातियों के समकक्ष बैठने का साहस अवश्य करेगा। हम इसी कारण योरपीय अथवा एशिया एवं अमेरिका सम्बन्धी विविध स्थानों पर किए गए युवक आन्दोलनों से अपने यहाँ के कार्यक्रमों की तुलना करने लगते हैं और उन देशों में काम आनेवाली कार्य-पद्धति को ही अपने लिए आदर्श मानकर अपने युवकों को भी उपदेश देने लगते हैं। चीन वा तुर्किस्तान अथवा हंगरी वा इटली की ग्राम-सम्बधी समस्याएं ठीक-ठीक हमारी भारतीय देहातों के प्रश्नों के ही समान नहीं उठ सकतीं और न उनकी परिस्थितियाँ ही हमारे यहाँ के वातावरण के समान समझी जा सकती है, परन्तु फिर भी बहुधा, शीघ्रता के फेर में पड़ कर, हम इस ओर अपना समुचित ध्यान नहीं देते

और न उनकी पूरी आलोचना ही कर लेते हैं। अतएव, कभी-कभी इस बात का भय होने लगता हैकि हमारे आन्दोलनकी प्रगति पथभ्रष्ट होकर अंत में कहीं अवनति की ओर न झुक जाय। मार्गों के स्पष्ट न रहने पर विशेष कर विविध बाधाओं के बीहड़ बनों में हमारा दृष्टिकोण सीधा और समतूल नहीं रहने पाता और पग-पग पर विचलित होकर हानि उठाने का भय बना रहता है, अतएव आवश्यक है कि हम अपने कार्यक्रम को कुछ अधिक गंभीरता के साथ समझने की चेष्टा करें।

हमारे गांव अत्यन्त प्राचीन हैं और उनमें क्रमशः आती हुई विविध परम्पराएं अपने विशेष नियमों के साथ स्वाभावतः विकसित हुई हैं। उनका एक अलग व्यक्तित्त्व है जिस पर आज तक आये हुए किसी भी विदेशी प्रभाव की छाप दृष्टिगोचर नहीं होती। हमारे गांवों की विशेषता में ही वास्तव में हमारे भारत की विशेषता सन्निहित है और हमारे गांवों में ही आज तक वह बहुमूल्य वस्तु छिपी पड़ी है जिसे बाहर वाले भारतीय संस्कृति का नाम दिया करते हैं। गांव ही, दूसरे शब्दों में, हमारी भारतीय सभ्यता के शिलाधार हैं और वे ही इस बूढ़े भारत के सुदृढ़ मेरुदण्ड की भिन्न-भिन्न गांठों वाली अस्थि रचना हैं। हम उन्हें न समझने के कारण स्वयं भारत की वास्तविकता से अपरिचित रह सकते हैं और वैसी दशा में हमारे कोई भी कार्यक्रम अधूरे से अधिक अच्छे नहीं कहे जा सकते। इसलिए अपने गांवों को सुधारने की चेष्टा करने के पहले हमारे लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम उन्हें भलीभाँति पहचानने की ओर उचित ध्यान दें। हम उनके रूप का ध्यानपूर्वक निरीक्षण करें उनकी कुल आवश्यकताओं को सावधानी के साथ समझें और उनकी कमियों के साथ-साथ उन पर सदियों से धूल के समान पड़ी हुई अनेक रूढ़ियों पर विचार करें। बिना भलीभाँति अध्ययन किए कोई भी समस्या हल नहीं की जा सकती और न उनका एक भी अंश अपने वश में लाया जा सकता है।

युवक कार्यकर्त्ताओं के सामने ग्राम-सेवा विषयक कोई भी कार्य क्रम रखने के पहले हमें चाहिए कि उन्हे गांवों की दशा स्वयं अध्ययन करने के लिए प्रोत्साहित करें। वे गांवों में जाकर कुछ दिनों तक ग्रामीणों के बीच ग्रामीण बनकर रहना सीखें। उनके साथ अपने को समुद्र में बूँद के समान मग्न करने पर ही हम उनके रहस्यमय हृदयों की थाह पा सकते हैं अथवा उनकी विलक्षण मनोवृत्ति का पूर्ण परिचय प्राप्त कर सकते हैं। उनके साथ पूरी सहानुभूति रखने पर ही उनकी कसकों का हमें कुछ पता चल सकता है और साथ ही उनका पूर्ण विश्वास पा लेने पर ही हम उनके दुःखों को दूर करने में सफल हो सकते हैं। जब तक उनके साथ आप एक नहीं हो जाते तब तक वे आप की ओर से सदा उदासीन हैं और आपकी कैसी भी योग्यता उन्हें आपकी ओर आकृष्ट नहीं कर सकती। उन्हें जल्दी नहीं चाहिए; उन्हें अन्य किसी भी बात की परवा नहीं। वे दुर्दैव से दुःख पाते रहने पर भी भाग्यवादी बने रहते हैं, उसके निराकरण का उपाय नहीं करते। उन्हें वैसे ही दृढ़ अवलम्ब की आवश्यकता है।

ग्रामीण मनोवृत्ति का अध्ययन

ग्रामीणों की मनोवृत्ति का पूरा पता लगाने के लिए यह परमावश्यक है कि हम सबसे पहले गाँवों के वातावरण पर विचार करें। गाँवों की बस्तियाँ बड़े-बड़े नगरों से प्रायः दूर बसी रहती है जहाँ साधनों की कमी के कारण न तो सुधारकों की ऊँची से ऊँची आवाज आसानी से पहुँच सकती है और न किसी बड़े से बड़े आंदोलन की ही लहर वहाँ तक टकराने पाती है। इन दोनों का जो कुछ भी प्रभाव वहाँ तक जा पाता है वह अत्यन्त क्षीण एवं धीमे वेग के साथ पहुँचता है जिसका अन्त में कुछ भी स्थायी महत्त्व नहीं रह जाता। इसके सिवाय इनके पहुँचाने वाले साधनों के कारण बहुधा बहुत-सी बातें मुख्य सिद्धान्तों के साथ मिश्रित हो जाया करती हैं जिनसे उनमें बहुत-से काल्पनिक अंश भर जाते हैं और ग्रामीणों को स्वाभावतः वैसी ही बातें सुनने-समझने को मिलती हैं जिनकी उन्हें कोई विशेष आवश्यकता नहीं रहती। ग्रामीण उक्त नवीन बातों की ओर से इसीलिए बहुत कुछ उदासीन बन जाते हैं और उनकी इस प्रकार की तटस्थता सुधारकों के अभीष्ट की सिद्धि में बाधा पहुँचाती है। ग्रामीणों की उदासीन मनोवृति को दूर करने के लिए यह नितांत आवश्यक है कि सुधार सम्बन्धी कोई भी सन्देश उन तक उचित समय के भीतर और उसके असली रूप में ही पहुँचाया जाय और साथ ही उसे प्रभावशाली बनाने के लिए परिस्थिति के पूर्ण अनुकूल बनाने का भी प्रयत्न किया जाय।

गाँवों के सदा से दूर बसते आने के ही कारण वहाँ पर ऐतिहासिक विकास के अनुसार लोगों का संगठन एवं जीवन एक भिन्न प्रकार का होता आया है। वहाँ के लोग अपनी दैनिक आवश्यकताओं

की पूर्त्ति आपस में मिल कर ही करते आने का अभ्यास डालते रहे हैं। दैनिक जीवन की भिन्न-भिन्न ज़रूरतों को पूरा करने के लिए उनके समाज के भिन्न-भिन्न अंग सदा उद्यत रहते आए हैं और इस प्रकार उन्हे अपने समाज को पूर्ण तथा अपनी दशा को व्यावहारिक दृष्टि से सन्तोषप्रद समझने का स्वभाव पड़ गया है। वे अपनी छोटी-सी सीमित मंडली से बाहर हाथ पसारने के आदी नहीं और इस आत्म-सन्तोष के भाव ने उनमें एक प्रकार की अहम्मन्यता उत्पन्न कर दी है जिस कारण नवीन बातों वा नवीन सन्देशों को वे बहुधा तिरस्कार की दृष्टि से देखने लगते हैं। एक ही प्रथा के अनुसार एक ही मार्ग का अवलम्बन करते आना भी उन्हें इसलिए नहीं खलता कि उनके पूज्य पुरुषों ने कभी उसे कुछ समझ कर ही दिखलाया होगा और ऐसी दीर्घकालीन परम्पराओं को सहसा त्याग देने का साहस करना सदा अनिष्टकार होगा। ग्रामीणों के इस अहंभाव के कारण पैदा हुई रूढ़िप्रियता को दूर करते समय बड़ी सावधानी से काम लेना चाहिए क्योंकि इसमें असफल होने से उनका शत्रु समझे जाने का अन्देशा रहता है।

उक्त दोनों प्रकार की बातों से कभी-कभी भ्रम होने लगता है कि ग्रामीण कुछ संकीर्ण-हृदय होते हैं, किन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं। ग्रामीणों की यह मनोवृति उनके हृदयों से सम्बन्ध न रख कर अधिकतर उनसे मस्तिष्क वा मानसिक दशाओं पर ही निर्भर रहती है। ग्रामीण अपने दैनिक व्यवहार की नैतिक बातों में किसी भी नागरिक से कम उदारहृदय नहीं होता। एक पड़ोसी के साथ उसके सुख-दुःख में सदा सम्मिलित होने के अतिरिक्त उसकी अतिथि-सेवा जीव-दया आदि सम्बन्धी बातें परम प्रसिद्ध हैं। भेद केवल इतना ही है कि सब कुछ होते हुए भी वह अपने अनुभवों को विस्तृत कर उनके द्वारा लाभ उठाने से सदा एक प्रकार का संकोच दिखलाता आया है। उसने कभी यह सोचने का कष्ट नहीं उठाया कि हमारे दैनिक

जीवन को अभी बहुत कुछ सुधारने की आवश्यकता है और इसके लिए कुछ करना भी होगा। उसे सदा से अपनी सीमा के ही अन्दर देखते आने का अभ्यास है, अतएव सुधारकों के लिए यह परमावश्यक है कि ग्रामीणों का यह स्वभाव बदलने के लिए उनके सामने दूसरे-दूसरे उन्नत समाजों की तुलना करके उनको उन्नत दशाओं से परिचित करावें और जहाँ तक सम्भव हो, किसी न किसी प्रकार की रचनात्मक पद्धति के अनुसार उनके द्वारा प्राप्त होने वाले लाभों की ओर क्रमशः उनका ध्यान आकृष्ट करें।

ग्रामीणों के विषय में एक बड़ा भारी लांछन यह दिया जाता है कि वे अधिकतर अन्धविश्वासी और दैव पर निर्भर रहनेवाले होते हैं। यह बात बहुत अंशों में ठीक है और इसका कारण यदि ढूढ़ना चाहें तो उसे उनकी नित्य प्रति की जीविका वा व्यवसाय में ही पा लेंगे। ग्रामनिवासी सदा से खेती-बारी, पशु-पालन अथवा अन्य इस प्रकार के छोटे-मोटे व्यवसाय करने के ही आदी हैं जिनके लिए उन्हें प्रायः अधिक परिश्रम करने की आवश्यकता नहीं रहती और न ऐसा अवसर उन्हें पड़ता है कि वे बहुत दूर तक सोचने-समझने का कष्ट उठावें इस प्रकार अपने जीवन में आसानी से ही बहुधा सफलता पाते रहने से उन्हें एक प्रकार की आलस्यप्रियता आ घेरती है और इस कारण कभी-कभी अचानक बाधा उपस्थित होते ही, उसका कोई प्रत्यक्ष कारण न देख सकने पर, उसके लिए वे परोक्ष की कल्पना करने लगते हैं। ऐसी स्थिति में उन्हें समझ पड़ता है कि उक्त कठिनाई को दूर करना हमारे बूते के बाहर है और यह तभी हो सकता है जब हमें कोई अलौकिक सहायता प्राप्त हो। ऐसी ही दशा में बहुधा वे किसी दैव अथवा दुर्दैव को पुकारा वा कोसा करते हैं और उन्हें अन्धविश्वास कष्ट पहुँचाता है। इस मनोवृति को दूर करने के लिए यह आवश्यक है कि हम ग्रामीणों को उनकी भीतरी शक्ति और साथ ही भिन्न-भिन्न अवस्था के लोगों द्वारा व्यवहार में

लाए जानेवाले लाभदायक साधनों का भी ज्ञान करावें और उन्हें अधिकतर स्वावलम्बन का ही पाठ पढ़ावें।

युवक कार्यकर्त्ताओं को चाहिए कि ग्रामीणों की भिन्न-भिन्न मनोवृत्तियों की पहचान होते ही, उनके कारण उत्पन्न हुई ग्रामीण समाज की भिन्न-भिन्न बुराइयों को भी भलीभाँति समझने की ओर पूरा ध्यान दें। उदाहरण के लिए उन्हें यह जान लेना परम आवश्यक है कि ग्रामीण यदि अधिकतर उदासीन रहने का आदी है तो उसके कारण उसके व्यक्तिगत वा सामाजिक जीवन में क्या-क्या बुराइयाँ पैदा होती हैं। मनुष्य समाज के किसी भी व्यक्ति का स्वभाव यदि उपयोगी वा आवश्यक बातों को जानने वा समझने से उदासीन रहने का है तो यह निश्चय है कि वह एक प्रकार के अज्ञान वा अन्धकार में रहेगा। इसका परिणाम यह होगा कि किसी समय, सदा बदलती रहने वाली अपनी परिस्थितियों के कारण किसी प्रकार का कोई संकट उपस्थित हो जाय अथवा कोई अपरिचित अवसर आ पड़े तो, उसके विचार में यह बात सहसा नहीं आ सकती कि, अपने बचाव के लिए, उसका प्रतिकार किस प्रकार होना चाहिए। गांवों में बाढ़, बीमारी, भूकम्प, वा अन्य इस प्रकार के उपद्रव आ पड़ने पर ग्रामीण समाज के सामने यह स्थिति बहुधा उपस्थित होती है। उस समय अपनी विवेकहीनता के कारण कोई भी व्यक्ति निश्चय नहीं कर पाता कि क्या करना चाहिए। प्रत्येक ग्रामीण के हृदय में उस समय एक प्रकार की घबड़ाहट वा बौखलाहट तक आ जाती है जिसके कारण वह बेचैनी के मारे शीघ्रता में अपने सर्वस्व का बहुत कुछ अंश व्यर्थ ही खो देता है। ग्रामीणों की उदासीनता दूर करने के लिए उन्हें यह सुझाना परमावश्यक है कि ऐसी परिस्थितियों का सामना करने के लिए वह पहले से ही दूरदर्शिता से काम लेना सीखे—"अग्रसोची सदा सुखी"।

ग्रामीणों की उदासीन मनोवृत्ति के कारण उनके समाज मेंएक दूसरी बुराई आलस्य की आ जाती है जिसके कारण भी उन्हें अनेक

कष्ट झेलने पड़ते हैं। वे अपने आगे आए हुए अवसर के महत्त्व को भलीभाँति पहचान नहीं पाते और न, पहचान चुकने पर भी, उसके अनुसार कार्य करने की ओर शीघ्र दत्तचित्त होते हैं। वे आज की बात को बहुधा कल पर टाल दिया करते हैं और यही परम्परा बराबर दिनों-महीनों वा कभी-कभी बरसों तक चली जाती है। अन्त में अधिक दिनों के अनन्तर अपने आवश्यक कार्य की ओर से भी उनकी रुचि वा दिलचस्पी बहुत कुछ मन्द पड़ जाती है और ऐसी स्थिति में उक्त कार्य हाथ में लेने पर भी फिर नहीं सँभल पाता। इस आलस्य के ही दुर्गुणों के कारण ग्रामीणों को बहुधा अवसर चूक कर पछताने वाला कहा जाता है और यह भी समझा जाता है कि इस प्रकार की बुराइयाँ उनमें समय का महत्त्व न जानने अथवा उसका दुरुपयोग करने का अभ्यासी होने के ही कारण आया करती हैं। ग्रामीणों द्वारा समय का दुरुपयोग बहुधा उनके व्यर्थ की बातचीत में दीख पड़ता है। किसी चौराहे पर अथवा जाड़ों में जलाये गए 'कौड़' वा अलाव के इर्द-गिर्द अथवा बरगद वा पाकड़ की ठण्डी छाया में बैठ कर हाथ में तम्बाकू मलते वा जमुहाई लेकर बातचीत करते हुए ग्रामीणों की मण्डली को जिसने देखा होगा उसे इस विषय में अधिक जानने की आवश्यकता नहीं। ग्रामीण ऐसे अवसरों पर एक प्रकार से दीन तथा दुनिया से अलग होकर अपना दिन काटते हैं और उनके अनेक आवश्यक कार्य भी ऐसी दशा में बहुत कुछ अधूरे बन कर ही रह जाते हैं। समय के सदुपयोग की ओर ग्रामीणों का ध्यान आकृष्ट कर अपने कार्यक्रम के प्रति रुचि पैदा करना भी इसके लिए ज़रूरी है।

उदासीनता के कारण उत्पन्न एक तीसरी बुराई ग्रामीण समाज में यह देखी जाती है कि ग्रामीण लोग अपनी किसी कार्य-प्रणाली में कोई सुन्दर व्यवस्था लाने का प्रयत्न नहीं करते। उनके कार्य-सम्पादन का क्रम बहुधा अत्यन्त अव्यवस्थित वा बेढंगा हुआ करता है। वे प्रायः इस बात की परवा नहीं करते कि अमुक कार्य यदि कुछ अच्छे

ढंग से किया जाय तो उसके करने में अधिक दिलचस्पी होगी और साथ ही कुछ समय की बचत भी होगी। अपना खेत यदि कोई सुन्दर पंक्तियों वा कतारों में बोवे और खलिहान के बोझे अच्छे ढंग से जमा करे तो इसके लिए उसे कोई विशेष कष्ट नहीं होगा, किन्तु इस प्रकार की क्रिया का प्रभाव क्रमशः उक्त खेत के काटते समय अथवा उक्त बोझों की दँवाई करते समय कैसा पड़ेगा इसका अनुमान भली-भाँति किया जा सकता है। ग्रामीणों में अपने घर के अन्दर की अनेक वस्तुओं को भी किसी ढंग से न रखने की बुराई देखी जाती है। एक ही घर के अन्दर कहीं गृहस्थी की आवश्यक सामग्री है तो वहीं पास में कपड़े-लत्ते और अपने खाने-पीने की भी चीजें रखी हैं और एक सन्दूक में यदि बैल की साइत, घंटी, पेटारी, आदि पड़ी हैं तो उसीमें कुछ दूसरी ओर बर्तन, काग़ज़, बही वा रामायण की पोथी भी 'रेहल' के साथ रखी हुई है। घर के अन्दर सजा कर रखी गई अधिक चीजें भी आ सकती हैं। किन्तु अस्त-व्यस्त पड़ी हुई थोड़ी भी सामग्री उस घर को कुरूप बना देती है और उसमें अँट भी नहीं पाती। इस कारण और बातों के साथ ही साथ हमें चाहिए कि ग्रामीणों के हृदय में सुन्दर को सुन्दर और असुन्दर को असुन्दर समझने की भी आदत डालें।

उदासीनता का सबसे भयंकर परिणाम अपनी क्रमशः होने वाली अवनति को अवसर पर न पहचान सकने की बुराई है। जिस प्रकार बहुत से रोग, रोगियों के शरीर में धीरे-धीरे हानि पहुँचा कर उन्हे क्रमशः जीर्ण-शीर्ण करते रहने पर भी, सहसा लक्षित नहीं होते उसी प्रकार अवनति की ओर उन्मुख होकर नष्ट होने वाले समाज की भी अप्रगतिशीलता बहुधा दीख नहीं पड़ती। रोग जिस प्रकार भीतर ही भीतर शरीर को थोड़ा-थोड़ा गलाया करता है उसी प्रकार अवनति की क्रिया भी बहुधा थोड़ी-थोड़ी करके ही किसी समाज को नीचे की ओर खींचा करती है। इन दोनों को दूर करने के पहले उन्हें

समय पर पहचानने और उसके लिए सचेत वा सावधान होने की आवश्यकता है जो किसी उदासीन व्यक्ति वा समाज के लिए सम्भव नहीं। ग्रामीणों के सामने उनकी सामाजिक शक्तियों का ह्रास होता रहता है—उनकी आर्थिक स्थिति बिगड़ती जाती है, उनका नैतिक पतन होता रहता है, उनकी धार्मिक व्यवस्था टूटती दीख पड़ती है—किन्तु वे कभी उनकी ओर समुचित ध्यान नहीं देते और न उन्हें रोकने के लिए सचेष्ट होते हैं। इसके लिए उन्हें जगाना आवश्यक है।

ग्रामीणों की अहम्मन्यता अधिकतर उनकी वंश परम्परा अथवा परिवार की महत्ता पर अवलम्बित रहती है। वे बार-बार उसीकी दुहाई दिया करते हैं। हमारे पुरखे बड़े शक्तिशाली वा प्रभावशाली थे, हमारे दादा की धाक सब कहीं जमी हुई थी, हमारे परिवार में एक से एक बड़े-बड़े और योग्य व्यक्ति हो गए हैं वा अब भी वर्तमान हैं अथवा हमारे कुल में आज तक किसी से नीचा देखने की नौबत नहीं आई, ये बातें ऐसी हैं जिन्हे ग्रामीणों के मुंह से आप बहुधा सुना करते हैं। ग्रामीण ऐसी ही बातों का दम भरा करते हैं और इन्हीं जैसी बातों के बल पर अपनी गर्दन सीधी किया करते हैं। किन्तु खेद की बात है कि वे इन बातों से उचित वा उपयुक्त परिणाम नहीं निकाल पाते। वे यह नहीं सोचते कि सब कुछ होते हुए भी वे स्वयं कहाँ के कहाँ पड़े हुए हैं। किसी वस्तु की प्रशंसा आप जितनी चाहे कर लीजिए, किन्तु जब तक आप उससे लाभान्वित होने की चेष्टा नहीं करते तब तक सारी बातें कोरी कही जायगीं। कुल वा कुटुम्ब के बड़ा होने से क्या लाभ यदि आप उनके अनुकूल अपना जीवन सुधारने के प्रयत्न नहीं करते और न यही सोचने का कष्ट करते कि आखिर हमें भी अपनी संतान के लिए उज्वल आदर्श रखने की नितांत आवश्यकता है। किसी कल्पित, वा सच्ची घटनाओं के भी, आधार पर व्यर्थ का अभिमान दिखला कर उसकी बंधन परंपरा अक्षुण्ण रखने मात्र का प्रयास करते रहना निरी मूर्खता है। इससे मिथ्याभिमान की वृद्धि होती है और

अकर्मण्यता में भी सहायता मिलती है। कार्यकर्त्ताओं को चाहिए कि ऐसी भावनाओं को मर्यादा के भीतर लाकर उनके द्वारा केवल उत्साह जागृत कराने भर का काम लें।

अहम्मन्यता की भावना के अमर्यादित बने रहने पर दिखाऊपन भी बहुत बढ़ा करता है। हम कुलीन वा संपन्न कहलाते हैं, अतएव ऐसी श्रेणी के कल्पित आदर्शों के अनुसार हमारा ठाट-बाट का सजाया जाना बहुत आवश्यक है, हमें दस मनुष्य पंडित बुद्धिमान् वा लोकचतुर कहने लगे हैं, अतएव ऐसी बातों में दृढ़ विश्वास कर हमें उसीके अनुरूप व्यवहार भी करना चाहिए अथवा बहुत से लोगों की दृष्टि में हमें अमुक अवसर पर अमुक रूप में ही दिखलाई पड़ना चाहिए जैसी बात ग्रामीणों के हृदय में अधिकतर जम जाया करती हैं। वे इनके द्वारा बहुधा मर्यादा से अधिक उत्तेजित होकर अपने सामने एक नयी दुनिया की रचना कर बैठते हैं और कोई भी मार्ग स्वीकृत करके फिर, दायें बायें की कौन कहे, अपने पैरों के नीचे की जमीन की ओर भी नहीं देखते। कहना न होगा कि प्रतिकूल परिस्थिति के बीच उनकी दशा किसी गोल सूराख में डाले जाने वाले चौकाने लौह-दण्ड की-सी हो जाती है और परिणाम स्वरूप हँसे जाने पर उन्हें पश्चात्ताप भी करना पड़ता है। दिखाऊपन एक बहुत बड़ी कला है जिसका शिकार बन जाने पर मनुष्य धीरे-धीरे अपनी असलियत से भी हाथ धोने लगता है। नैतिक दृष्टि में इसका परिणाम दम्भ के रूप में दिखलाई पड़ता है, धार्मिक क्षेत्र में इस दुर्गुण के कारण पाखंड बढ़ता है, आर्थिक विचार से, अंत में यह घोर अपव्यय का कारण बनता है और इसका बरतने वाला समाज में सदा एक सारहीन ढोंगी की पदवी पाता है।

अहम्मन्यता के कारण मितव्ययता का दूर होना भी अवश्यम्भावी है। अनेक ग्रामीण परिवार के लोग केवल इस कारण व्यय करते हैं कि अमुक पड़ोसी अथवा पट्टीदार के मुकाबले में उन्हें कोई छोटा न समझने लगे। अमुक व्यक्ति ने अपना मकान इतने रुपये

लगाकर बनाया है, अमुक परिवार की बारात में इतने हाथी, घोड़े, नाच एवं बाजे गए थे, आतिशबाजी उड़ी थी और बीसों थान गहने सुनहले तथा रुपहले चढ़ाए गए थे अथवा अमुक मुकाबले के परिवार वाले लड़कों के मुण्डन एवं जनेऊ में इतना धन लगा देते हैं अतएव ऐसी स्थितियों में यदि हमने दोनों हाथ खर्च करने से तनिक भी संकोच किया तो अवश्य हेठी समझी जायगी और अपने समाज से हमारा मान उठ जायगा। इस प्रकार के भाव ग्रामीणों के हृदय में बराबर उठा करते हैं और इनसे उत्तेजित होकर, केवल अपना बड़प्पन बनाये रखने के ही लोभ में पड़कर वे अपना सर्वस्व फूंक ऋणी वा भिखारी तक बन जाते हैं। दिखाऊपन के रोग ने देहातों में एक से एक अच्छे प्रतिष्ठत कुल को भी नष्ट-भ्रष्ट कर डाला है। अहम्मन्यता के वश में रहने वाले अपनी महत्ता के प्रकाशन में इतना लगे रहते हैं कि उन्हें प्रतिपल दूसरों के सामने नाचनेवालों का-सा स्वभाव पड़ जाता है। बात यह है कि अहम्मन्यता 'अहम्' के साथ अत्यन्त निकट संबन्ध रखती हुई भी 'मन्यता' के कारण सदा दूसरों का ही मुँह ताका करती है।

परन्तु अहम्मन्यता का कदाचित् सबसे बड़ा दुष्परिणाम देहातों के द्वेष, कलह और झूठ के रूपों में दिखलाई पड़ता है। हम बड़े हैं अतएव हमारा बड़प्पन बनाए रखने के लिए किसी दूसरे का हमसे किसी बात में बढ़ जाना सदा हानिकर होगा, हम जनता द्वारा बड़े समझे जाते हैं अतएव हमारी शान में अमुक दुर्व्यवहार करके जो अमुक व्यक्ति ने हमें हानि पहुँचायी है उसका प्रतिकार अवश्य होना चाहिए तथा यदि अमुक व्यक्ति वा परिवार के साथ हमारी लड़ाई छिड़ गई तो फिर उनके साथ हमारा किसी भी प्रकार का सहयोग करना हमारे लिए नीचा देखना समझा जा सकता है जैसे भाव ग्रामीणों को सदा मटियामेट करते रहते हैं जिसके कारण सबसे बड़ी हानि यह होती है कि कैसा भी अवसर आ पड़ने पर, हम एक दूसरे का कहा

सुनने पर कभी तैयार नहीं होते और सारा समाज धीरे-धीरे छिन्न-भिन्न एवं उच्छृंखल होने लगता है। सभी झगड़े मुकदमेबाजी वा पारस्परिक कलह को उचित से अधिक दिनों तक कायम रखने में अहम्मन्यता का बहुत बड़ा हाथ रहता है। शत्रुता की ज्वाला यह कभी बुझने नहीं देती बल्कि पुराने अपमानों की स्मृति के रूप में उसे इंधन तथा घी की सहायता दिया करती है। अहम्मन्यता वास्तव में अनेक दुर्भावों की जननी है। ग्रामीणों को इससे सदा बचाना चाहिए।

भाग्यवाद बनाम कर्मवाद

ग्रामीणों की संकीर्णता, वास्तव में, उनके अज्ञान पर ही आश्रित रहती है किन्तु उसके भयंकर परिणामों को देख कर कोई भी बतला सकता है कि उसके सहयोग में अनेक अन्य दुर्गुण भी काम करते हैं। ग्रामीणों की ज़िद प्रसिद्ध है। वे अपनी बात पर हठ करते समय इतने दुराग्रही बनते हैं कि तर्क-वितर्क सम्बन्धी किसी के भी लाख प्रयत्न उनके सामने हवा हो जाते हैं। उनका बात-बात पर इस प्रकार कहना, 'चाहे सूरज पूरब को छोड़ पच्छिम दिशा की ओर उगने लगे,' 'चाहे धरती डोल जाय,' 'चाहे सारी दुनियाँ एक ओर होकर मुकाबला करे,' 'चाहे जो हो जाय, मैं अपनी बात नहीं छोड़ूँगा और, चाहे असम्भव ही क्यों न हो गया हो फिर भी, अपनी बछिया के लिए खूँटा वहीं गाड़ूँगा जहाँ कहता हूँ। उनकी मूर्खता के साथ अहम्मन्यता, अन्धविश्वास के साथ अदूरदर्शिता, कलहप्रियता के साथ बेढंगे अड़ियलपन का परिचय देता है जिसके कारण व्यर्थ का समय-नाश एवं प्रयत्नों की विफलता देखकर दर्शकों के हृदय में क्षोभ तथा क्रोध तक का संचार होने लगता है। ग्रामीणों की विकट ज़िद सचमुच झुकना नहीं जानती, वह तोड़ देगी, किन्तु टस से मस न होने देगी। वह एक निर्बल में बल, निरीह में प्रयत्न और निर्जीव में एक ऐसा अनोखा जीवन ला देती है जिसे अन्यत्र ढूँढ निकालना अत्यन्त कठिन है। ज़िद भी शायद कोई एक नशा है जिसका प्रभाव जल्दी हटाये नहीं हटता और न उसका रंग मिटाये मिटा करता है। उसकी ख़ुमारी में भी एक ऐसी तीव्रता होती है जिसका सहन करना वस्तुतः सर्वनाश की प्रतीक्षा करने के समान है। ज़िद करने वाले ग्रामीण को सुधारने की चेष्टा में बहुत बड़ी सावधानी की आवश्यकता है।

परन्तु संकीर्णता के कारण उत्पन्न होने वाली बुराइयों के अंतर्गत, ज़िद के समान अत्यन्त कटु एवं स्पष्ट दुर्गुणों के अतिरिक्त, ऐसी कुछ अन्य बातें भी आती हैं जिनका रूप ऊपर से शीघ्र लक्षित नहीं हो पाता यद्यपि उनका प्रभाव प्रायः उसी प्रकार भयंकर हो जाया करता है। ऐसे दुर्गुणों में ही एक संकोच है जिसे अपनाकर ग्रामीण बहुधा बहुत कुछ खो दिया करते हैं। संकोच की प्रवृत्ति कभी-कभी अच्छी भी होती है जब उसका परिणाम शालीनता के रूप में दीख पड़ता है किन्तु उसका कारण संकीर्णता वा अज्ञानता नहीं होती बल्कि वह सदाशयता और आत्मविस्मृति के आधार पर अवलम्बित रहता है। संकीर्णता वाले संकोच में मनुष्य, अपने अज्ञान के कारण, अपना असली आत्मविश्वास धोखे में खो बैठता है। उसे, सदा छोटी और सीमित परिधि, के ही भीतर चक्कर लगाते-लगाते ऐसा स्वभाव पड़ जाता है कि कोई भी काम आ पड़ने पर उससे अधिक दूर की वस्तु सूझ नहीं पड़ती और वह सहसा शक्तिहीन बन जाता है। संकोच के प्रभाव में आकर मनुष्य अपने हृदय को मानो संकुचित कर देता वा सिकोड़ लेता है और हृदय के विकास की रुकावट ही वास्तव में हमारे जीवनस्रोत को सुखा देने वाली वस्तु हुआ करती है। संकोच का परिणाम, इसी कारण बहुत व्यापक होता है। ज़िद एवं संकोच दोनों अवगुण मनुष्य के लिए प्रायः एक ही प्रकार घातक सिद्ध होते हैं इनमें अन्तर केवल यही है कि पहला पत्थर के समान दृढ़ है और प्रत्यक्षरूप में ठेस पहुँचाता है तो दूसरा वायवीरूप में तरल एवं अदृश्य रह कर भी हानिकारक बन जाता है। दोनों की प्रवृत्ति केन्द्रित होने की ही ओर है, अतएव इन दोनों के लिये ग्रामीणों के हृदय को उदार एवं विशाल बनाने की आवश्यकता है।

संकीर्णता मनुष्य के हृदय में उक्त ज़िद एवं संकोच के अतिरिक्त कपट के भी भाव भरा करती है। कपट की दशा में मनुष्य अपने असली भाव को छिपा कर बनावटी बातें प्रकट किया करता है जिससे

दूसरे को धोखा होता है और हानि भी उठानी पड़ती है। ग्रामीणों में कपट का व्यवहार बहुत अधिक मात्रा में देखा जाता है। वे बहुधा, साधारण सी बातों में भी अपने निकटवर्ती लोगों के साथ कपट और छल से काम लेते हैं। वे समझते हैं कि इसके द्वारा दूसरे को धोखा देकर वा नीचा दिखाकर हम उसकी हानि में कुछ न कुछ सुख प्राप्ति का अनुभव करेंगे। वे अपनी संकीर्णहृदयता एवं अदूरदर्शिता के कारण इस बात का विचार नहीं कर पाते कि उनके इस कार्य का दुष्परिणाम कितना बड़ा तक हो सकता है—किस प्रकार उस दूसरे का हृदय सहसा कलुषित होकर दोनों के बीच गहरी शत्रुता की नींव पड़ सकती है और अन्त में उनका वैमनस्य मात्र भी एक पूरे समाज का सत्यानाश कर सकता है। बहुत से ग्रामीणों का स्वभाव होता है कि वे किसी के द्वारा हानि उठा कर भी उसका प्रभाव अपने ऊपर लक्षित नहीं होने देते बल्कि अपने कटु अनुभव को भी हृदय में अत्यन्त सावधानी से छिपा, बाहर से भलेमानस का बाना पहन लेते हैं और बराबर इस ताक में रहते हैं कि अवसर आते ही अपना बदला लेलें। यह कार्य अधिक सुभीते के साथ उन लोगों से होता है जो समाज में भ्रमवश भोलेभाले वा सीधेसादे का नाम पाया करते हैं और जिनकी कार्यपद्धति का किसी अन्य को बहुधा अनुमान तक भी नहीं हो पाता। द्वेष और कपट प्रायः एक ही परिणाम के कारण हुआ करते हैं किन्तु कपट की मीठी मार का अनुभव, धोखे के कारण, कुछ अधिक तीव्र एवं भयंकर हुआ करता है। इस दुर्गुण के कारण अनेक परिवार नित्यशः भ्रष्ट तथा मटियामेट होते रहते हैं।

परन्तु कपट की शक्ति में भी न्यूनाधिकता असत्य के कारण ही आती है और यह चौथी बुराई कदाचित् इन सबमें अधिक प्रबल एवं व्यापक हुआ करती है। असत्य, वास्तव में सारे सामाजिक दुर्व्यवहारों का आदि कारण बना करता है और इस एकमात्र मौलिक दुर्गुण को ही दूर कर आप चाहें तो रामराज्य का वातावरण उपस्थित कर सकते

हैं। असत्य का महत्त्व अधिक होने के कारण ही उसे धार्मिक दृष्टि से, बड़े-बड़े पापों में गिना गया है और गोस्वामी तुलसीदास जी ने तो

'नहि असत्य सम पातक पुंजा।
गिरिसम होहि कि कोटिक गुंजा॥'

कह कर उसे सभी पापों से बढ़ा दिया है। ग्रामीण असत्य की महत्ता को अपने दैनिक व्यवहार में प्रायः बहुत कम स्वीकार करते हैं। वे कपट के साथ इसका पूरा उपयोग तो करते ही हैं कभी-कभी साक्षी के रूप में अदालत के सामने आने पर वे शपथ लेकर भी, इसे अपनाने से नहीं चूकते। असत्य के कारण हमें बाजारों में बहुधा असली चीजें नहीं मिला करतीं और यदि मिल भी जाती है तो इसीके प्रभाव में उनका दाम दुगुना-चौगुना तक देना पड़ता है। प्रत्येक वस्तु के लिए 'मोल-मोलाई' का होना और उसके ग्राहकों का वास्तविक मूल्य जानने का व्यर्थ प्रयत्न करना तथा बेचने वालों का, उसके दोषों को जानते हुए भी, किसी न किसी प्रकार उन्हें छिपा कर धोखे से हवाले करना कब नहीं देखा जाता? असत्य का दुर्गुण लोगों के स्वभाव का एक अंश होगया है, अतएव इसके बुरे परिणामों की ओर सहसा हमारी दृष्टि नहीं जाती। सत्य भी, इसी कारण, हमारे लिए एक आदर्शमात्र रह गया है; व्यवहार में उसका समावेश बड़ी कठिनता से हो पाता है। ध्यानपूर्वक विचार करने पर एक महान् आश्चर्य यह जान पड़ता है कि सत्य के सीधे-सादे मार्ग द्वारा निर्भय होकर स्थायी लाभ उठाने की जगह टेढ़े-मेढ़े जाकर क्षणिक लाभ प्राप्ति के लिए सशंकित पग बढ़ाना आख़िर लोग क्यों पसन्द करते हैं और, बुद्धि का अंश अपने भीतर रखते हुए भी, परिणामों के सोचने का कष्ट क्यों नहीं करते?

अंधविश्वास की मूलभित्ति अज्ञान के स्थूल स्तर पर उठा करती है और अज्ञान का वास्तविक रूप अंधकारमय होता है। अतएव

जिस प्रकार चारों ओर से छाये हुए सघन अन्धकार में पड़े व्यक्ति को अपना स्थान छोड़ कर अन्यत्र हिलने-डुलने तक का साहस नहीं होता और वह विवश होकर जहाँ का तहाँ जमे रहने में ही अपना कल्याण समझता है उसी प्रकार अंधविश्वासी को भी, अपनी पूर्व पद्धति का त्याग कर नवीनता को ग्रहण करने की ओर, प्रवृत्ति नहीं जाया करती। उसे अपने पूर्वपरिचित जीवन में ही आनन्द आता है, नयी अज्ञात दिशा की ओर बहकना उसे भयावह जान पड़ता है। अंधविश्वास की मनोवृत्ति में प्राचीनता से प्रेम होता है और, उसमें अटल विश्वास करने के कारण, उससे विमुख होकर नवीन बातों को अपनाते समय एक प्रकार का स्वाभाविक आलस्य भी आने लगता है। अंधविश्वासी को बहुधा पता नहीं चलता कि जिस वस्तु वा परम्परा से चिपक कर पड़ा रहना वह श्रेयस्कर समझता है उसका आखिर कुछ महत्त्व भी है वा नहीं। वह उसके दोषों की ओर से आँखें मूँदकर केवल उसके काल्पनिक गुणों का ही स्वप्न देखा करता है और कभी-कभी उसके दुर्गुणों के कड़ुवेपन को हर्षपूर्वक सहन करने के लिए उस पर चीनी मढ़ी हुई कुनैन की गोली की भाँति मधुर गुणों का सहसा आरोप तक कर लेता है। अंधविश्वास को अधिकतर लोग साम्प्रदायिक दोषों में ही गिना करते हैं, किन्तु ऐसा करना उचित नहीं। इस मनोवृत्ति का वास्तविक सम्बन्ध रूढ़ियों के साथ आत्मीयता का अनुभव करने एव पूर्व समय से मनोनीत इष्ट वस्तुओं के महत्त्व में दृढ़ विश्वास रखते हुए उन पर अवलम्बित रहने से हुआ करता है, अतएव ग्रामीणों के सरल सामाजिक जीवन में इसके प्रभाव का नित्यप्रति लक्षित होता रहना स्वाभाविक है।

अंधविश्वासी जीव को तर्क प्रभावित नहीं कर सकता। यदि किसी ग्रामीण से पूछा जाय कि तुम अपने कृषि-कार्य की पुरानी प्रणाली छोड़ कर नये ढङ्ग से कार्य क्यों नहीं करते अथवा खाद के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होने वाले गोबर के उपले बना कर उन्हें

आग में क्यों जला दिया करते हो तो वह शीघ्र कह उठेगा कि ये दोनों बातें बराबर से चली आती हैं इनमें उलट-फेर करने से यदि कोई प्रत्यक्ष आर्थिक लाभ की आशा भी हो तो परिवर्तन करना उचित नहीं। आपके दिए हुए आँकड़े वा बीसों स्पष्ट उदाहरण उसकी मनोवृत्ति को कभी नहीं बदल सकते; जो उसके हृदय में बैठ गया है वह बैठा ही रहेगा। यही क्यों, एक कहावत है कि किसी घर व्याह में नव वधू के साथ कभी कोई पली हुई बिल्ली आई थी, इसलिए उस परिवार में सदा के लिए आगे की प्रत्येक वधू के साथ कोई न कोई बिल्ली उतारने की प्रथा चल पड़ी। बिल्ली सुहाग का चिह्न हो गई। इसी प्रकार कितने ग्रामीणों के घर सादा छप्पर फूस का ही होना चाहिए, बैठके में पत्थर के खम्भे नहीं लग सकते। ईंट की दीवारों के कारण घर के लोग अधिकतर बीमार पड़ा करते हैं अथवा कमरे के ऊपर दूसरी मंजिल उठाने से लक्ष्मी का निवास असम्भव हो सकता है। यदि आप इन बातों के गुणावगुण समझा कर परिवर्तन लाने का प्रयत्न करें तो सफल होना कठिन है।

अंधविश्वास जिस प्रकार कट्टरपंथी बनाता है उसी प्रकार उसके द्वारा हमें भाग्यवादी हो जाने का भी भय बना रहता है। अंध-विश्वास के कारण हम परोक्ष का आश्रय ग्रहण करते हैं और उसके काल्पनिक संकेतों की ओर दृष्टि लगाते रहने से अदृष्ट की अलौकिक शक्ति के विषय में हमारी धारणा दृढ़ हो जाती है। आश्चर्य तो यह है कि अन्त तक हमें यह पता नहीं चलता कि उक्त अदृष्ट वा दैव का वास्तविक रहस्य क्या है। हम ग्रामीणों के हृदय से यह भावना सहसा नहीं निकाल सकते कि अदृष्ट कोई एक ईश्वरी शक्ति सम्पन्न जीव है जो प्रत्येक मनुष्य के ललाट पर उसके जन्म के पहले ही एक विचित्र प्रकार की अक्षरप्रणाली द्वारा निश्चित बातें लिख मारता है जो किसी प्रकार भी मिटायी नहीं जा सकती। वे लाख समझाने पर भी यह मान लेने में अपने को असमर्थ पाते हैं कि अदृष्ट वास्तव में उस अज्ञात का

अज्ञेय नियम का नाम है जिसे कभी-कभी सर्वसाधारण की भाषा में संयोग कहा करते हैं और जिससे मनुष्य के भावी क्रिया-कलापों से कोई भी सम्बन्ध नहीं है। मनुष्य के भावी कार्यों पर यदि किसी बात का कोई प्रभाव पड़ सकता है तो वह उसके किए हुए कर्मों का समुदाय है जिसका अपने अनुसार परिणाम दिखलाना स्वभावसिद्ध है। भाग्यवाद और कर्मवाद ये दोनों भिन्न-भिन्न सिद्धांत हैं। वास्तव में इन दोनों में एक प्रकार से पारस्परिक विरोध भी है। भाग्यवाद जहाँ किसी अदृष्ट दैव द्वारा पूर्व निश्चित कट्टर नियमों के भरोसे मनुष्य को रख कर उसे नितांत अकर्मण्य एवं निठल्ला बना देता है वहाँ कर्मवाद उसके हृदय में ऐसी धारणाओं को जगह देता है कि मनुष्य वास्तव में अपने ही हाथों का पुतला है और वह चाहे तो अपनी कार्य-पद्धति में सुधार कर भविष्य में अपने को देवता बना सकता है। भाग्यवाद से मनुष्य का उत्साह मंद पड़ जाता है और उसमें निरुत्साह एवं आलस्य घर कर लेते हैं, किन्तु कर्मवाद द्वारा आत्मविश्वास आता है और नवजीवन का संचार भी होता है।

उपर्युक्त ढङ्ग से कट्टरपंथी एवं भाग्यवादी बन जाने के कारण हमारे अंधविश्वासी ग्रामीण अपने जीवन की होड़ में कितने पिछड़े हैं यह किसीसे छिपा नहीं। पुरानी लकीर पीटते-पीटते वे थोड़ी-सी भी कठिनाई पड़ते ही निराश हो बैठते हैं और विविध दुःखों द्वारा कातर बन कर दैव को कोसने लगते हैं। फिर तो आगे बढ़ने की कौन कहे उन्हें अपने वर्तमान स्थान को भी सँभालना कठिन हो जाता है और वे क्रमशः कर्त्तव्य विमुख होने लगते हैं। उनके सामने कोरे युवकों की एक भी नहीं चलती और अन्त में सुधार करने वाले को भी हतोत्साह बन कर केवल शत्रुता ही मोल लेनी पड़ती है। ग्रामीणों का अंधविश्वासजनित मोह भंग करने के लिए तर्क के हथियार का काम नहीं और न उन पर अधिकार जमाकर उनका भय दूर करने के लिए किन्हीं प्रलोभनों के जाल का रचना ही आवश्यक है। सबसे

पहले उनके साथ आत्मीयता का भाव जागृत कर उनके सुखों में सुखी एवं दुखों में दुःख का भागी बनने के उदाहरण उपस्थित करना चाहिए। वे आश्रय के आदी हैं और शक्ति के सामने अपने को समर्पित करना जानते हैं। अतएव, उनका बन कर उनके ऊपर अप्रत्यक्ष रूप से क्रमशः प्रभाव डालते हुए ही उनकी उन्नति का मार्ग प्रशस्त करते रहना चाहिए।

ग्राम-सेवा के सूत्र

ग्रामीणों की मनोवृत्ति और उसके कारण होने वाले दुष्परिणामों को भलीभाँति समझ लेने के अनन्तर अपने कार्यक्रम को निर्धारित करना आवश्यक है। ग्रामीणों की आवश्यकताएं अधिकतर सामाजिक हैं और उन्हें पूर्ण करने में जनता की अधिक से अधिक संख्या की सहानुभूति अपेक्षित है। अतएव कार्यकर्त्ताओं का संगठन ऐसा होना चाहिये जिसमें प्रायः प्रत्येक रुचि एवं विचार के लोग यथासम्भव भाग ले सकें। जाति-विशेष वा परिवार-विशेष की ही संस्था अतिरिक्त वर्गों के हृदय में संदेह उत्पन्न करती है, उसका सामूहिक महत्त्व उतना नहीं हो पाता और न इसी कारण, उसका प्रभाव सर्वसाधारण पर भले प्रकार से पड़ सकता है। ग्रामीणों के भीतर संघशक्ति की बिजली दौड़ाने के लिए यह परमावश्यक है कि उसके महत्त्व की ओर उनमें से प्रत्येक का ध्यान आकृष्ट करने की चेष्टा की जाय, उसके प्रति श्रद्धा के भाव जागृत किए जाँय और उसके सहर्ष स्वागत के लिए उत्साह का समुचित संचार किया जाय।

संगठन

परन्तु संख्या की श्रेष्ठता स्वीकार करते हुए भी हम भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की योग्यता-विशेष को उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देख सकते। ग्रामीणों में परम्परा-प्रेम के समान ही वीर-पूजा के प्रति परम्परागत भाव भी बहुधा देखा जाता है और ये दोनों भावनाएं उनके सामाजिक स्वभाव के अंग रूप समझी जाती हैं। अतएव किसी प्रकार का भी संगठन करते समय उनके हृदयों में घर कर चुके हुए व्यक्तियों को हम कभी भुला नहीं सकते। इसके सिवाय किसी कार्य-विशेष का सम्पादन करते समय कभी-कभी हमें ऐसे लोगों की भी आवश्यकता होती है जो अपने दीर्घ-कालीन अनुभव अथवा बहुधा केवल अपनी दीर्घ वयस वा ऊँचे नाते के ही

कारण अगुआ बन कर शीघ्र पथ-प्रदर्शन कर देते हैं और उनके पीछे चलने में लोग हिचकिचाने का नाम तक नहीं लेते। कार्यकर्त्ता का चुनाव करते समय हमें यह भी जान लेना चाहिए कि अमुक देश वा काल की परिस्थिति के अनुकूल कौन-सा व्यक्ति अधिक से अधिक कृतकार्य होने में समर्थ होगा। ग्राम सम्बन्धी संगठन आरम्भ करने के पहले ऐसी कई विशेष बातें समझ लेनी चाहिए।

इस विषय पर, एक और भी दृष्टि से, इस प्रकार विचार कर सकते हैं। प्रत्येक कार्यकर्त्ता ऐसा होना चाहिए जो अवसर पड़ने पर सुगमता के साथ सहायता कर सके, जो बहुधा किसी न किसी व्यक्तिगत कार्य में फँसा न रहा करे और न, स्वास्थ्य की कमी अथवा बाहर से आवागमन का सिलसिला जारी रखने के कारण, समय पर अनुपस्थित हो जाय। उसकी वयस भरसक ऐसी हो जबकि, युवकोचित अधकचरे अनुभव अथवा चांचल्य के कारण, बनी बात भी बिगड़ने न लगे और न जबकि जर्जरता के कारण स्वाभाविक शैथिल्य आ जाने से कार्य की प्रगति में बार-बार बाधा उपस्थित होने लगे। ग्रामों के भीतर कार्य करने वालों के लिए विशेष धैर्य एवं शांति की आवश्यकता होती है। उस वातावरण में आकर कैसा भी प्रगतिशील व्यक्ति एक एक बार सोचने के लिए रुक जाता है। स्थानीय कार्यकर्त्ताओं के लिए विशेष अड़चन यह भी होती है कि वे पूर्ण परिचित होने के ही कारण अपने गांव के भीतर बहुत कुछ प्रभावहीन से बन जाते हैं। सब लोग उसे 'वही अमुक का लड़का' वा 'अमुक का पोता' मात्र ही समझ कर उसका मूल्य नहीं परख पाते।

ग्राम सम्बन्धी संगठनों में समूह-विशेष की अपेक्षा उसके अगुआ का महत्त्व कहीं अधिक हुआ करता है। ग्रामीणों की मनोवृत्ति के अनुसार विचार करने पर पता चलेगा कि किसी भी शासन करने वाले समूह के भीतर उसका प्रत्येक सदस्य अपने अधिकारों का महत्त्व नहीं समझता और न उसे उन्हें प्रयोग में लाने की ओर प्रवृत होना आव-

श्यक जान पड़ता है। अवसर पड़ने पर बहुधा वह अपने सजातियों वा परिचितों की चेष्टाओं पर ही विशेष ध्यान रखा करता है, स्वयं सोचने का कष्ट नहीं उठाता और न कार्यवाही में प्रमुख भाग लेना ही चाहता है। परिणामों के विषय में वह बहुधा निरपेक्ष बन जाता है। समूह के अगुए को भी, इसी प्रकार, उसके सारे सदस्य एक विचित्र भाव के साथ देखा करते हैं। वह उनका श्रद्धाभाजन तथा, इसी कारण, विश्वस्त नेता होता है और उसके निश्चयों को बिना मीन-मेष के मान लेने में वे आनाकानी नहीं करते। परन्तु स्मरण रहे कि ऐसा बिचार प्रायः अनुशासनभंग के भय से उत्पन्न न होकर उनकी कर्त्तव्य-हीनता वा, कम से कम, उदासीनता का ही परिणाम होता है।

गांवों में काम करने वालों का, उक्त प्रकार से संगठन हो जाने के अनन्तर, कार्यक्रम का निर्धारित हो जाना भी आवश्यक है। किसी भी संस्था के अन्तर्गत जीवन लाने के लिए उसमें किसी न किसी प्रकार के कार्य को निरन्तर हाथ में लेकर उसे चलाते रहना ही ठीक होता है,

कार्य-शैली

थोड़े काल के लिए भी, आवश्यक रूप से यदि शिथिलता आ जाय तो उस संस्था की बहुधा 'साख़' गिर जाती है। इसका अथ यह नहीं कि कार्यक्रम में कभी विराम को स्थान ही न मिलना चाहिए। विराम, कार्यकर्त्ताओं की दृष्टि से न सही, संस्था की भलाई के लिए भी कभी-कभी आवश्यक हो ही जाता है। जिस प्रकार कारखानों की मशीनें एक निश्चित मात्रा में काम कर लेने पर बराबर देख भाल ली जाती है और उनके बिगड़े वा घिसे हुए पुर्जे दुरुस्त कर लिए जाते हैं, उसी प्रकार किसी संस्था के संगठन, उसकी कार्यपद्धति एवं कार्यावली पर भी एक विहंगम दृष्टि डाल लेना उसकी भावी सफलताओं के विचार से कभी-कभी नितांत आवश्यक हो जाता है। प्रचलित संस्थाओं में आज कल, इसी कारण, वार्षिक, षट्मासिक, त्रैमासिक वा मासिक रिपोर्ट लिखने और उस पर आलोचनात्मक ढंग से विचार करने की

प्रथा चलायी जाती है। परन्तु, खेद है कि सदा उन आलोचनाओं से उचित लाभ नहीं उठाया जाता और न अधिकतर वे आलोचनाएँ ही पूर्ण एवं पर्याप्त रूप में प्रस्तुत की जाती हैं। किसी संस्था के लिए विराम का उचित समय तभी आना चाहिए जब उक्त रिपोर्टों के आधार पर की गई बहस के निमित्त कुछ अवसर निकाल कर भावी कार्य-संचालन निश्चित किया जा रहा हो। ऐसे समय पर, अपने आदर्श की दृष्टि से, कोई आमूल परिवर्त्तन भी करना पड़े तो कोई हानि नहीं।

कार्यक्रम तैयार करने के पहले प्रत्येक बात के विषय में स्पष्ट धारणाओं को भलीभाँति हृदयंगम कर लेना चाहिए। किस कार्य को किस पद्धति के अनुसार पूरा कर उसे कौन-सा अन्तिम रूप देना है—इसे आगे के लिए विचाराधीन कभी न रखना चाहिए। ऐसा करने से कार्य-प्रवाह प्रायः कुछ ही दूर तक जाकर, अविदित अड़चनों के कारण, बहुधा रुक जाया करता है, समस्याएँ खड़ी हो जाती हैं और कार्यकर्त्ता अपने को अर्द्ध मार्ग में ही शक्तिहीन समझने लगते हैं। ऐसे अवसरों पर उलझन-सुलझन के फेर में पड़ कर समय का कुछ न कुछ दुरुपयोग तो करना पड़ता ही है उसका प्रभाव साधारण जनता के ऊपर भी बहुत बुरा पड़ जाया करता है। कभी-कभी तो एक भी ऐसी स्थिति संस्था की आशाओं पर पानी फेर कर उसे निरर्थक बना डालती है।

दूसरी बात जिसे किसी कार्यक्रम को तैयार करने के प्रथम सोच लेना आवश्यक है वह यह है कि निश्चित अवधि के भीतर हम उसे भलीभाँति सम्पन्न करने में समर्थ होंगे वा नहीं। कार्यक्रम का मस्विदा अधिकतर भविष्य की अनुकूलता पर विश्वास करके ही तैयार किया जाता है, और कार्यकर्त्ताओं को पहले इस बात को बहुत सोच-समझ लेने की चिन्ता नहीं रहती कि किसी परिस्थिति के प्रतिकूल हो जाने पर, अन्त में किया क्या जायगा। इसलिए सबसे अधिक सुभीते की बात कदाचित् यह होगी कि प्रस्तावित कार्यक्रम, जहाँ तक हो सके, सीधा-सादा और छोटा ही रखा जाय। एक ही साथ कोई कई कार्य

खूबी के साथ कभी नहीं कर सकता। आदर्श यह होना चाहिए कि एक ही काम 'भरसक' एक बार लिया जाय और उसका निर्वाह पूरी योग्यता के साथ किया जाय। ऐसा करने से अपना कार्यक्रम तो आगे बढ़ता ही है उससे आगे बढ़ने का साहस भी उपलब्ध होता है।

तीसरी बात जो इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य है वह अपने कार्यक्रम के व्योरे में से सबसे पहले किसी सरल कार्य का हाथ में लेना है। कहा जाता है कि विद्यार्थी अपने सामने आने वाले परीक्षा-पत्र में से हल करने के लिए, सर्वप्रथम, वही प्रश्न चुना करता है जो सबसे सरल होता है। मानवीय जीवन-काल के समस्या-पत्रों को हल करते समय भी हमें, यथा सम्भव, इसी नियम का पालन करना अधिक श्रेयस्कर होगा। यह सच है कि, कभी-कभी उक्त समस्याओं को हल करते समय, हम उन्हें आगे-पीछे करने में बहुधा बाहरी परिस्थितियों से विवश रहा करते हैं। परन्तु जहाँ कहीं हमें सफलता मिल सके वहाँ इस नियम से लाभ अवश्य उठाना चाहिए। कार्यक्रम को पूर्ण करने में इससे बहुत बड़ी सहायता मिलती है।

चौथी बात जो उक्त तीनों में से किसी से भी कम नहीं, हाथ में लिए हुए कार्य को पूर्ण करके ही छोड़ना है। यदि कभी संयोगवश कोई कार्य निश्चित अवधि के भीतर पूर्ण न किया जा सके तो उसे वहीं से छोड़ देना बहुत बड़ी मूर्खता है। एक कार्य को अपूर्ण रख कर दूसरे को हाथ में लेने वाला कभी सफलता का भागी नहीं हो सकता। अतएव, निश्चित अवधि के भीतर सम्पन्न न हो सकने वाले कार्य के लिए फिर एक दूसरी अवधि भी दे देना ही अच्छा होता है। ऐसा करने से कार्य तो पूरा होता ही है कार्यकर्त्ता भी उत्साह-भंग का नहीं होने पाता। नवीन कार्य को हाथ में लेने के लोभ को, इसी कारण, संवरण कर पहले अपूर्ण कार्य की समाप्ति को ही अपनी आँखों देख लेना कहीं अधिक आनन्द की बात होती है।

किसी कार्यक्रम का भलीभाँति निर्वाह कर ले जाना उतना सरल

नहीं है जितना वह पहले जान पड़ता है। कार्यक्रम का प्रत्येक अंश आरम्भ में उसके विधायक वा रचयिताओं की कतिपय व्यवस्थित मनोभावनाओं का ही परिणाम हुआ करता है। उसके भावी स्वरूप अथवा विकास के सम्बन्ध में जो धारणाएं बना करती हैं वे वास्तविक व्यवहार की कसौटी पर प्रायः कसी हुई नहीं रहा करतीं। अतएव कभी-कभी प्रत्येक पद पर भूलों की सम्भावना हो सकती है। विषय से अपरिचित वा अनुभवहीन व्यक्ति, इसी कारण, उसे लेकर थोड़ी दूर जाने पर ही, बहुधा सशंकित हो उठते हैं और भ्रांतियों के फेर में पड़ कर अपना पूर्व संचित धैर्य तक त्याग कर निरुत्साही बन जाते हैं। अतएव, हमारे युवक कार्यकर्त्ताओं को यह पहले से ही समझ लेना परमावश्यक है कि जिस ढांचे के अनुसार उन्होंने अपने मनोनीत महल का निर्माण करना सोच रखा था उसका स्वरूप पूर्णतः निश्चित नहीं है और न जिस रंग में उन्होंने उसे रँगा हुआ देखना चाहा था वही स्थायी है। परिस्थितियों के अनुसार उनके आदर्शों में भी सुधार किया जा सकता है और उनके परिश्रम का परिणाम भी परिमित बन कर ही आ सकता है। परन्तु इन बातों से निराश होने की आवश्यकता नहीं। आदर्श एवं व्यवहार के बीच कुछ न कुछ भिन्नता का आ जाना अनिवार्य-सा है। अतएव, किसी कार्य में वस्तुतः प्रवृत्त हो जाने पर हमें ऐसी आशा कदापि न करनी चाहिए कि हम उन दोनों में अधिक से अधिक सामंजस्य स्थापित करने की अपेक्षा कुछ और भी कर सकते हैं।

किसी समाज को देवताओं का समाज बना देना वा भूतल पर स्वर्ग को उतार लाना कोरे उद्देश्य के रूप में लाभदायक भले सिद्ध हुआ हो, किन्तु इसकी वास्तविक रूप-रेखा आज तक अपनी कल्पना के क्षेत्र से बाहर किसी ने भी न देखी होगी। सच तो यह है कि व्यवहार की सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर देवता और स्वर्ग दोनों निरी कल्पना की ही वस्तु प्रतीत होंगे और उनके अनुभव का साधन

भी प्रत्यक्ष न होकर अनुमान के ही आधार पर आश्रित जान पड़ेगा। आदर्शवादियों का जगत् वह अद्भुत प्रदेश है जिसकी सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती है और जिसके अमूर्त्त निवासियों की आकृति विशेष का अनुमान तक करना असम्भव है। व्यवहार के सीमित क्षेत्र में प्रत्यक्ष दैनिक घटनाओं का संघर्ष चला करता है; रूखे-तीखे स्वार्थ एक दूसरे से टक्कर खाया करते हैं और आदान-प्रदान के नियमों द्वारा उन्हें घटा-बढ़ा कर बैठाने के प्रयत्न भी होते रहते हैं। व्यावहारिक जीवन की वास्तविक सफलता मुहमाँगी वस्तु के प्राप्त करने में नहीं देखी जा सकती, उसकी पहचान उस अप्रत्यक्ष व्यापार-क्षेत्र के भीतर किसी प्रकार अपना सौदा पटा लेने में ही हुआ करती है।

युवकों का कार्य, गाँवों के अपरिचित एवं बहुत कुछ नासमझ लोगों के बीच रह कर उनकी भलाई की दृष्टि से, सुधार करना है। अतएव ऐसी स्थिति में भिन्न-भिन्न स्वार्थों का पारस्परिक विरोध न करने पर भी अन्य दूसरी कठिनाइयों की भी कमी नहीं रहती। जिस व्यक्ति वा समाज को वे लाभ पहुँचाना चाहते हैं वे बहुधा उन्हें सर्व प्रथम, अच्छी दृष्टि से नहीं देखा करते। वे नवागन्तुकों से सदा भय खाने के आदी रहते हैं। कोई भी नयी बात उनके लिए पहले कड़वी वा कम से कम अव्यावहारिक-सी ही दीखती है। उन्हें अपने फोड़े के चीरे जाने पर तो दर्द होता ही है, उसे शीघ्र सूखता हुआ न पाकर वे और भी दुःखी हो जाते हैं। उनका कष्ट तो दूर होना ही चाहिए, ऐसा शीघ्र से शीघ्र हो जाना उससे भी कहीं अधिक आवश्यक है। अतएव अपना कार्य आरम्भ करने की तिथि से लेकर अन्त तक उन्हें इस बात का आश्वासन मिलता जाना चाहिए कि जो कुछ होगा उनकी भलाई के लिए ही होगा और अवश्य होगा।

कार्यकर्त्ताओं को, इसी कारण, यदि हो सके तो अपने कार्य में स्वयं ग्रामीणों से सहयोग प्राप्त करने का अधिक से अधिक प्रयत्न

करना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से कुछ न कुछ सहायता के अति-रिक्त सुभीता भी बहुत मिल जाती है। जो किसी कार्य में अपना समय लगा कर, परिश्रमपूर्वक प्रयत्न किया करते हैं उन्हें उसमें दिलचस्पी रहती है और उसके बनने में अपना बनाव तथा उसके बिगड़ने में अपना बिगाड़ समझते हैं। इस प्रकार, उसके प्रति एक प्रकार की ममता की भावना जागृत हो जाने के कारण, उसे स्थायी रूप देना वे अपना कर्त्तव्य समझ लेते हैं। कहा जाता है कि किसी धर्म वा सम्प्र-दाय की बातों का प्रचार करने में उसके द्वारा प्रभावित नये व्यक्ति को जितना उत्साह एवं उमंग होता है उतना उसके मूल प्रचारकों का नहीं हुआ करता। अतएव, जहाँ कहीं भी कार्यारंभ हो वहाँ के लोगों को अधिक से अधिक संख्या में सहयोगी बना लेना परमावश्यक हुआ करता है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर जान पड़ेगा कि सुधार-सम्बन्धी किसी भी कार्यक्रम का प्रत्येक अंश वास्तव में वैज्ञानिक प्रयोगशाला में किए जाने वाले प्रयोगों के ही समान हुआ करता है। अन्तर केवल इतना ही है कि इसकी प्रयोगशाला स्वयं मानव समाज है जिसमें अधिक विस्तार होने के साथ ही अपने जीते-जागते अवयवों के सज्ञान भी होने के कारण, जटिलता का भी समावेश हो जाता है और तदनुसार उसमें कार्य करने वाले के लिए अधिक से अधिक सतर्क भी होना पड़ता है। इन प्रयोगों में पग-पग पर भूलें हो सकती हैं और पल-पल में ऐसे अवसर उपस्थित हो सकते हैं जबकि सारे कार्यक्रम को एक बार दुहराये बिना काम नहीं चल सकता। इसके सिवाय साधारण वैज्ञानिक प्रयोग में प्रमाद होने पर केवल कुछ सामग्रियों के नष्ट हो जाने अथवा प्रयोगकर्त्ता को थोड़ी शारीरिक क्षति पहुँचने की आशंका रहती है, किन्तु सुधार सम्बन्धी प्रयोगों के तनिक भी अव्यवस्थित हो जाने पर समाज के भीतर किसी उथल-पुथल के घटने की सम्भावना आ उपस्थित होती है और कभी-कभी सुधारक की स्थिति भी अत्यंत

विकट हो जाती है। वैज्ञानिक प्रयोग में चूकने पर यदि चाहें तो दूसरी सामग्री लेकर वही बातें एक बार आप फिर भी प्रयोग में ला सकते हैं किन्तु समाज के भी अनुकूल वातावरण के लिए पूरी प्रतीक्षा किए बिना आप कभी ऐसा नहीं कर सकते। निर्जीव पदार्थों के दुहरे-तीहरे प्रयोगों द्वारा किसी नियम का प्रतिपादित कर लेना सरल भी हो सकता है किन्तु सजीव सामग्री के एक बार हाथ से निकल जाने पर सुधार में सफलता लाने की बात कौन कहे उसके कारण उत्पन्न हो गई स्थिति को सम्भालना तक दुःसाध्य हो जाता है।

इतिहास में इस बात के अनेक प्रमाण मिलेंगे कि सुधार के लिए कटिबद्ध होने वालों को, प्रारम्भिक असफलताओं के कारण समाज में अपने प्रति जागृत संदेह अथवा असन्तोष की मात्रा के बढ़ जाने पर, कठिन से कठिन तक विपत्तियाँ झेलनी पड़ती हैं। हज़रत मोहम्मद ने मक्का के निवासियों की सामाजिक दशा सुधारने के लिए अत्यन्त शुद्ध भाव के साथ प्रयत्न करना आरम्भ किया था। बड़ी सावधानता एवं कार्यकुशलता के साथ वे निरन्तर कार्य करते रहे, किन्तु प्रसिद्ध है कि उन्हें कई वर्षों तक अनेक यातनाएँ सहनी पड़ीं। उनके अनुयायियों तक के जान के लाले पड़े रहे और अन्त में उन्हें हिजरत करके ही आत्म-रक्षा करनी पड़ी। यदि वे आसन्न संकटों से घबड़ा कर अपने निश्चय से विचलित हो जाते तो अपने उद्देश्य की पूर्त्ति में कभी सफल नहीं हो पाते। धैर्य एवं समय की गति ने उन्हें सहायता दी। इसी प्रकार, जिन-जिन सामाजिक सुधारों को प्रतिफलित करने के लिए टर्की के मुस्तफ़ा कमाल पाशा अथवा ईरान के रजाशाह पहलवी ने अपने-अपने देशों में अनुकूल वातावरण उत्पन्न करके इच्छानुसार सफलता पायी प्रायः उन्हींको प्रकाश में लाने की चेष्टा करनेवाले अफग़ानिस्तान के शाह अमानुल्ला ने केवल थोड़े से उतावलेपन के कारण असफल होकर अपना राज्य तक खो दिया—अपनी सच्ची आदर्शवादिता वा शासन शक्ति के सहारे वे कुछ भी न कर सके। महात्मा गाँधी द्वारा सर्व

साधारण में किए गए 'सत्य के प्रयोगों' का उदाहरण हमारे सामने है। उन्हे प्रत्येक विषय को व्यावहारिक रूप देने की चेष्टा करते समय पूर्ण स्वाध्याय, संयम एवं सतर्कता से काम लेना पड़ता था। फिर भी अपना समाज उनका कड़ी आलोचना करने से बाज नहीं आता था। उन्हें थोड़ी बहुत सफलता दिलाने का मुख्य श्रेय उनके आत्मबल एवं कट्टर आशावादिता को ही दिया जा सकता है।

वास्तव में प्रत्येक सुधारक के लिए यह जान लेना नितांत आवश्यक है कि हमारे कार्यक्रम का पूर्ण निर्वाह जितना उसके सैद्धांतिक दृष्टि से शुद्ध एवं हितकर होने पर अवलम्बित है उससे कहीं अधिक वह अपने कार्यकर्त्ता के अवसर-ज्ञान एवं वातावरण-रचना की शक्ति अथवा असीम धैर्य तथा चरित्रबल की अपेक्षा बराबर किया करता है। मानव समाज—और विशेषकर पिछड़े हुए ग्रामीणों के समाज—में सफलता प्राप्त करना कोरे शुद्ध हृदय एवं उच्च आदर्शों पर ही निर्भर नहीं है और न किसी मनोहारिणी क्रांति की लहरें उत्पन्न करके ही वहाँ स्थायी कार्य किया जा सकता है वह क्षेत्र अनभिज्ञ वा अनभ्यस्त आंदोलनकारियों के अधिकार में देने योग्य वस्तु नहीं है। ग्राम-सुधार के आयोजन का मुख्य उद्देश्य उसके निश्चित कार्यक्रम का सफल निर्वाह मात्र है। अतएव युवक कार्यकर्त्ता का परम कर्त्तव्य है कि वह उसे निर्विघ्न रूप से अंतिम आदर्श तक पहुँचा देने में कुछ भी उठा न रखे। जिस प्रकार सामाजिक स्थिति का समुचित अध्ययन मुख्य कार्यकर्त्ता के लिए परमावश्यक है और उसके सहायकों का सुसंगठित होना सुभीते की बात होती है उसी प्रकार कार्यक्रम का सफल निर्वाह सारे आयोजन का लक्ष्य है।

परिशिष्ट

पटवारी और ग्राम-सेवा

ग्रामसुधार से असली मतलब गांवों में रहनेवाले आमतौर से सर्व-साधारण लोगों की जानकारी बढ़ाकर उन्हें एक अच्छी जिन्दगी बिताने में जहाँ तक हो सके मदद करना है और इस काम में पटवारी अपने कर्त्तव्य-पालन द्वारा बहुत कुछ हाथ बँटा सकते हैं। पटवारी का काम देहाती लोगों की हालत से गवर्नमेण्ट को बराबर परचित कराते रहना, आवश्यकतानुसार उनके यहाँ तक गवर्नमेण्ट के कारनामों की खबर पहुँचाकर उनसे फायदा उठाने की सलाह देना और अपने जान-माल को सुरक्षित रखने के लिए गाँव के किसी ठेठ देहाती को जानने की जो कुछ जरूरत पड़ें उसके लिए सुभीता पैदा करना है। पटवारी यदि गवर्नमेण्ट के लिए देहात की हर एक इञ्च जमीन का हिसाब रखता है तो साथ ही उस जमीन के उपयोग करने वालों के आपस के सम्बन्ध, उससे होने वाले लाभ-हानि और लोगों के दैनिक जीवन में दिखलाई देने वाली हर तरह की आफतों का पता भी बतलाता है और इस बात के लिए गवर्नमेण्ट और पब्लिक दोनों को आगाह करता रहता है कि आगे की हालत प्रायः कैसी हो सकती है। देहातों के लिए किए गए गवर्नमेण्ट के अधिकतर इंतिजाम पटवारियों की रिपोर्टों के ही आधार पर सोचे गए रहते हैं और उनमें जो कुछ उन्नति की गुञ्जायशें की जाती हैं उनमें भी बहुत कुछ हाथ किसी न किसी तरह पटवारियों का ही होता है। यदि पटवारियों के कामों पर पूरा ध्यान दिया जाय तो जान पड़ेगा कि ग्राम-सुधार के कार्यक्रम का एक बहुत बड़ा हिस्सा पटवारी लोगों के लिए नियत किये गए कर्त्तव्य का ही थोड़ा बहुत व्यावहारिक रूप है।

हमारे देहात के करीब-करीब सभी लोग अपना जीवन निर्वाह

खेती के द्वारा ही किया करते हैं और ग्राम-सुधार के विभागों का कर्त्तव्य है कि वह ऐसे लोगों की मदद के लिए अपने आदमी भेजकर उन्हें गाँवों में खेती करने के अच्छे से अच्छे ढङ्गों से परिचित कराए। उन्हें यह बतलावे कि जिस तरह से हमारे यहाँ इस समय खेती होती है उसमें उन्नति करने की बहुत कुछ गुञ्जायश है और वह गुञ्जायश खेतों में मिट्टी की पहचान से लेकर, खाद डालने, खेत तैयार करने, ख़ास-ख़ास ढङ्ग के अच्छे बीज बोने, सिचाई करने, निराने, देख-भाल करने, फसल तैयार होने पर उससे अनाज निकाल कर घर लाने या बाजार में उसे बेचने तक में की जा सकती है। ग्राम-सुधार के विभाग इन कामों में निर्देश देने के लिए कृषि-विभाग से पूरी मदद लेता है। लेकिन, यदि सच पूछियें तो, ये सभी निर्देश बेकार हो जाते है जब ठेठ देहाती उन्हे 'बाहरी लोगों की बक-बक' समझ कर उनकी ओर पूरा ध्यान नहीं देता और अपनी वही पुरानी लकीर पीटता रहता है। ठेठ देहाती को सुधार के रास्ते पर लाकर उससे उन्नति कराने की आशा रखने वालों का यह सबसे बड़ा कर्त्तव्य है कि वह पहले देहात के लोगों की तबीयत और उनकी कार्य-शक्ति की परख रखना जाने और यह काम उन्हीं लोगों का है जो या तो उनके साथ अपना दैनिक जीवन व्यतीत करते हैं या उनके साथ जिनके असली मौकों पर आम तौर से व्योहार रहा करता है। पटवारी लोगों का असली कर्त्तव्य देहात में देहातियों के साथ रहकर उनके विषय में हर एक तरह की जानकारी हासिल करना और उनकी उन्नति के लिए उनके ऊपर बराबर ध्यान रखने वाली सरकार तक खबर पहुँचाना है। इसलिए ये यदि ग्राम-सुधार के कामों में पूरी दिलचस्पी लेने लगें और यह समझ लें कि ऐसा करना अपने कर्त्तव्य के ही अनुसार व्योहार करना है तो ग्राम-सुधार के विभागों को बहुत बड़ी मदद मिल सकती है और साथ ही उनका भी काम हो सकता है। पटवारी के लिए यह बहुत कुछ आसान है कि वह कृषि-विभाग के विशेषज्ञों के दिए गए निर्देशों को सचमुच

लाभप्रद बतलाकर उनपर व्यवहार करने के लिए देहाती लोगों को तत्पर करे और इस ढंग पर ग्राम सुधार के एक बहुत बड़े उद्देश्य की पूर्त्ति में हाथ बँटाए।

पटवारियों की सामान्य शिकायत है कि वे इस बात को अपना कर्त्तव्य समझते हुए भी कि हमें जहाँ कहीं मवेशियों या घोड़ों की बीमारी देहात में शुरू हुई कि फौरन मवेशो-अस्पताल को खबर देनी चाहिए ऐसा नहीं करते और मौका पड़ते रहने पर भी उनके पास रखे हुए कार्ड आगाही या Warning post Cards सादे, बिना भरे-भराये रह जाते है। सच यह है कि पटवारी लोग इसको एक मामूली-सी बात समझ लेते हैं और यह नहीं सोचते कि समय पर उनकी इस थोड़ी-सी लापरवाही कर देने से बेचारे देहाती लोगों के सैकड़ों-हजारों रुपयों पर अचानक पानी फिर जाता है। इसी तरह, हैजा, प्लेग आदि वाले रोगों के बारे में भी समय पर खबर न पाने के कारण स्वास्थ्य-विभाग मदद नही पहुँचा सकता। यही क्यों, देहात की जिन्दगी को हर तरह से खराब हालत में लाने वाले रोज-रोज के दंगे-फसाद को भी यदि पटवारी समझा-बूझा-कर रोक देना चाहें तो उनके लिए बहुत बड़ी बात नहीं। खेती के डाँड़े-मेंड़े के मामूली झगड़े लगान या मालगुजारी की वसूली के समय की बक-झक और आपस के हिस्से-बाँट वगैरह के विषय में तनातनी विशेष रूप से पटवारियों के ही बीच-बचाव से तै होने वाले मामले हुआ करते हैं। इनके समय पर न सुलझने के कारण प्रायः अर्थ का अनर्थ हो जाता है। गांव का पटवारी यदि होशियारी और ईमानदारी के साथ अपना काम पूरा करता हो तो वह आसानी से वहाँ के लोगों के लिए एक नेक सलाहकार का काम दे सकता है जिस पर भरोसा करके नई बातों से प्रायः भड़कने वाले देहाती भी अपनी उन्नति अपने हाथों करना सीख सकते हैं।